# नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा

हजारीप्रसाद द्विवेदी
पृथ्वीनाथ द्विवेदी

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली : पटना

## क्रम

है जो प्रथित चार वेदों में नहीं है और उनके लिए यह 'नाट्य-वेद' ही 'स्वत प्रमाण' वाक्य है। किसी शास्त्र को वेद कहने का मतलब यह है कि वह स्वय अपना प्रमाण है उसके लिए किसी अन्य आप्त वाक्य की अपेक्षा नहीं। मनु ने साक्षात् धर्म के कारण को चतुर्विध बताया है— श्रुति स्मृति सदाचार और अपने-आपको प्रिय लगने वाली बात। परन्तु ये चारो समान रूप से स्वतन्त्र नहीं। स्मृति उतनी ही ग्रहणीय है जितनी कि श्रुति से समर्थित है सदाचार उतना ही ग्रहणीय है जितना कि श्रुति और स्मृति से समर्थित है और अपनी प्रिय बात उतनी ही दूर तक स्वीकार्य है जितनी दूर तक वह श्रुति स्मृति और सदाचार के अविरुद्ध हो। धर्म के अन्तिम तीन कारण श्रुति से मर्यादित हैं। मनु जिसे श्रुति समझते है उसमे ऐसी बहुत-सी बातो का समावेश नहीं रहा होगा जो नाट्य-वेद मे गृहीत है। इसलिये नाट्य-शास्त्र' के आरम्भ मे इसे श्रुति की मर्यादा दी गई है।

जब से नये ढग की शोध-प्रथा प्रचलित हुई है तब से 'नाट्य-वेद' के विषय मे आधुनिक ढग के पण्डितो म अनेक प्रकार की कल्पना-जल्पना चल पडी है। यह भी विचार का विषय बना हुआ है कि 'नाट्य-शास्त्र' को पाँचवाँ वेद क्यो कहा गया। वे कौनसी ऐसी बातें थी जो इस शास्त्र के प्रवर्तित होने के पहले वैदिक आर्यों म प्रचलित थी और कौन सी ऐसी बातें है जो नयी है ? फिर जो नयी है उनकी प्रेरणा कहाँ से मिली ? क्या यवन आदि विदेशी जातियो से भी कुछ लिया गया था कहीं की आर्येतर जातियो मे प्रचलित प्रथाओ से उन्हें ग्रहण किया गया ? इन कल्पना-जल्पनाओ का साहित्य काफी बडा और जटिल है। सबकी पुनरावृत्ति करना न तो यहाँ आवश्यक ही है और न उपयोगी ही। 'नाट्य-शास्त्र' की कथा से इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटकों मे जो पाठ्य-भाग होता है उसका मूल रूप 'ऋग्वेद' मे मिल जाता है जो गेय अश है वह भी 'सामवेद' मे प्राप्त हो जाता है और जो रस है उसका मूल रूप 'अथर्व' वेद मे प्राप्त हो जाता है। कम-से-कम 'नाट्य-शास्त्र'

पाठ्य-अंश लिया, 'सामवेद' से गीत का अंश, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्ववेद' से रसों का संग्रह किया। 'नाट्य-वेद' का निर्माण करके ब्रह्मा ने प्रचार करने के उद्देश्य से उसे देवताओं को दिया। परन्तु इन्द्र ने उनसे निवेदन किया कि देवता लोग इस नाट्य-कर्म के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में असमर्थ हैं। इस काम को वेदों के रहस्य जानने वाले संशित-व्रत मुनियों को देना चाहिए। ब्रह्मा ने इसके बाद भरत मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम अपने सौ पुत्रों के साथ इस 'नाट्य-वेद' के प्रयोक्ता बनो। पितामह की आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस 'नाट्य-वेद' का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाट्य-वेद' पृथ्वी-तल पर आया।

यह कहानी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वेदों से भिन्न पाँचवाँ वेद होते हुए भी 'नाट्य-वेद' के मुख्य अंग चारों वेदों से ही लिये गए हैं। दूसरा यह कि यद्यपि इसके मूल तत्त्व वेदों से गृहीत हैं तथापि यह स्वतन्त्र वेद है और अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी दूसरे का मुखापेक्षी नहीं। तीसरा यह कि यह वेद अन्य वेदों की तरह केवल ऊँची जातियों के लिए नहीं है बल्कि सार्ववर्णिक है, और चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक आचार और क्रिया-परम्परा के प्रवर्तित होने के बहुत बाद त्रेता युग में इस शास्त्र का निर्माण हुआ। उस समय जम्बूद्वीप देवता, दानव, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो चुका था, यानी भारतवर्ष में बहुत-सी नयी जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था।

भारतीय परम्परा यह है कि किसी भी नये शास्त्र के प्रवर्तन के समय उसका मूल वेदों में अवश्य खोजा जाता है। वेद ज्ञान-स्वरूप हैं, उनमें त्रिकाल का ज्ञान बीज-रूप में सुरक्षित है। भारतीय मनीषी अपने किसी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना नहीं मानते। 'नाट्य-वेद' की उत्पत्ति की कथा में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है, परन्तु इस शास्त्र को वेद की मर्यादा देने का एक और अर्थ भी है। इसमें कुछ ऐसी बातें

काल में गाने की प्रथा काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। इतना ही नहीं, 'ऋग्वेद' १।९२।४ में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थीं और प्रेमियों को आकृष्ट करती थीं। 'अथर्ववेद' में (७।१।४१) पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख है। श्री ए. बी. कीथ ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को देखते हुए इस बात में कोई कठिन आपत्ति उपस्थित होने की सम्भावना नहीं देखी कि ऋग्वेद-काल में लोग ऐसे नाटकीय दृश्यों को जानते थे जो धार्मिक हुआ करते थे और जिनमें ऋत्विक लोग स्वर्गीय घटनाओं का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और मुनियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

नाटक में जो अंश पाठ्य होता है वह पात्रों का संवाद ही है। 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता ने जब यह संकेत किया था कि ब्रह्मा ने 'नाट्य-वेद' की रचना के समय 'पाठ्य-अंश' 'ऋग्वेद' से लिया था तो उनका तात्पर्य यही रहा होगा कि ऋग्वेद में पाए जाने वाले काव्यात्मक संवाद वस्तुतः नाटक के अंश ही हैं। ऐसा निष्कर्ष उन दिनों यज्ञादिकों में प्रचलित नाटकीय दृश्यों को देखकर ही निकाला जा सकता है। आधुनिक काल के कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेदकालीन यज्ञों में वस्तुतः कुछ अभिनय हुआ करता था। सारे संसार की प्राचीन जातियों में नाच-गान और अभिनय का अस्तित्व पाया जाता है। प्रो. फान श्रोडर ने बताया था कि ऋग्वेद में आए हुए संवाद प्राचीनतर भारोपीय काल के आर्यों में प्रचलित नाच, गान और अभिनय के उत्तरकालीन रूप होंगे। सारे संसार में सृष्टि-प्रक्रिया के रहस्य को प्रतीक-रूप में अभिनीत करने के लिए अनेक प्रकार के मैथुनिक अभिनय प्रचलित थे। प्राचीन ग्रीक लोगों में भी एक प्रकार का लिंग-नृत्य प्रचलित था, परन्तु इस प्रकार के अनुमान के लिए न तो मूल संहिताओं में ही कोई निश्चित सबूत पाया जाता है और न हजारों वर्षों की भारतीय परम्परा में ही कोई संकेत मिलता है। लूडविग, पिशेल और ओल्डेनबर्ग-जैसे विद्वानों ने यह बतलाने का प्रयत्न

'सामवेद' से गीत-पाठ लिया गया यह कहना ठीक ही है। ऋक् या पद्य को साम की योनि कहा गया है। योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थल। आर्चिक और उत्तरार्चिक में सामवेद के दो भाग हैं। आर्चिक अर्थात् ऋचाओं का संग्रह। इसमें ५८५ ऋचाएँ हैं। विंटरनित्स ने कहा है कि इसकी तुलना एक ऐसी गान-पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गान के केवल एक-एक ही पद लय या सुर की याद दिलाने के लिये संग्रह किये गए हों। दूसरी ओर उत्तरार्चिक ऐसी पुस्तक से तुलनीय हो सकता है जिसमें पूरे गान संगृहीत होते हैं और यह मान लिया गया होता है कि सुर या लय पहले से ही जाने हुए हैं। कहने का अर्थ है कि सामवेद एक अत्यधिक समृद्ध संगीत-परम्परा का परिचायक ग्रन्थ है। इसलिये शास्त्रकार का यह कहना कि 'नाट्यवेद' में गीत सामवेद से लिए गए हैं, युक्तियुक्त और साधार है।

शास्त्र का दावा है कि 'नाट्य-वेद' में जो अभिनय है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। 'यजुर्वेद' अध्वर्युवेद कहलाता है। पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में बताया है कि उसकी १ १ शाखाएँ थीं। यज्ञ में अध्वर्यु लोग 'यजुर्वेद' के मन्त्रों का पाठ करते हैं। इस वेद की पाँच शाखाएँ या पाँच विभिन्न पाठ प्राप्त हैं।

१ 'काठक' अर्थात् कठ लोगों की संहिता (२) 'कपिष्ठल-कठ-संहिता' कुछ थोड़ी-सी भिन्न और अपूर्ण हस्तलिपियों में ही प्राप्त हुई है (३) 'मैत्रायणी संहिता' अर्थात् मैत्रायणीय परम्परा की संहिता (४) 'तैत्तिरीय संहिता' या आपस्तम्ब संहिता (इन चारों में बहुत साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेद की शाखा कहते हैं।) तथा (५) 'वाजसनेयी संहिता' शुक्ल यजुर्वेद की संहिता कहलाती है। इसका नाम "याज्ञवल्क्य वाजसनेयी' के नाम पर पड़ा। यही इस शाखा के आदि आचार्य थे। इसकी भी दो शाखाएँ प्राप्त हैं, कण्व और माध्यन्दिनीय।

'यजुर्वेद भाष्य' की भूमिका में महीधर ने लिखा है कि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने अपने याज्ञवल्क्य इत्यादि शिष्यों को चारों वेद

सामवेद' से गीत-भाग लिया गया यह कहना ठीक ही है। ऋक् या पद्य को साम की योनि कहा गया है। योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थल। आर्चिक और उत्तरार्चिक ये सामवेद के दो भाग हैं। आर्चिक अर्थात् ऋचाओं का संग्रह। इसमें १८१ ऋचाएँ हैं। विंटरनित्स ने कहा है कि इसकी तुलना एक ऐसी गान-पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गान के केवल एक-एक ही पद्य लय या सुर की याद दिलाने के लिये संग्रह किये गए हों। दूसरी ओर उत्तरार्चिक ऐसी पुस्तक से तुलनीय हो सकता है जिसमें पूरे गान संगृहीत होते हैं और यह मान लिया गया होता है कि सुर या लय पहले से ही जाने हुए हैं। कहने का अर्थ है कि सामवेद एक अत्यधिक समृद्ध संगीत-परम्परा का परिचायक ग्रन्थ है। इसलिये शास्त्रकार का यह कहना कि 'नाट्यवेद' में गीत सामवेद से लिए गए हैं युक्तियुक्त और साधार है।

शास्त्र का दावा है कि 'नाट्य-वेद' में जो अभिनय है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। 'यजुर्वेद' अध्वर्युवेद कहलाता है। पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में बताया है कि उसकी १ १ शाखाएँ थीं। यज्ञ में अध्वर्यु लोग 'यजुर्वेद' के मन्त्रों का पाठ करते हैं। इस वेद की पाँच शाखाएँ या पाँच विभिन्न पाठ प्राप्त हैं।

१ 'काठक' अर्थात् कठ लोगों की संहिता (२) 'कपिष्ठल-कठ-संहिता' कुछ बाकी-सी भिन्न और अपूर्ण हस्तलिपियों में ही प्राप्त हुई है (३) 'मैत्रायणी संहिता' अर्थात् मैत्रायणीय परम्परा की संहिता (४) तैत्तिरीय संहिता' या आपस्तम्ब संहिता (इन चारों में बहुत साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेद की शाखा कहते हैं।) तथा (५) 'वाजसनेयी संहिता' शुक्ल यजुर्वेद की संहिता कहलाती है। इसका नाम "याज्ञवल्क्य वाजसनेयी' के नाम पर पड़ा। वही इस शाखा के आदि आचार्य थे। इसकी भी दो शाखाएँ प्राप्त हैं, कण्व और माध्यन्दिनीय।

'यजुर्वेद भाष्य' की भूमिका में महीधर ने लिखा है कि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने अपने याज्ञवल्क्य इत्यादि शिष्यों को चारों वेद

पढ़ाए। एक दिन वैशम्पायन रुष्ट होकर याज्ञवल्क्य से बोले कि तुमने मुझसे जो कुछ पढ़ा है उसे छोड़ दो। गुस्से में याज्ञवल्क्य ने भी जो पढ़ा था सब उगल दिया जिसे गुरु की आज्ञा से वैशम्पायन के शिष्यों ने तीतर बनकर खा लिया। यही वृत्तान्त आज 'तैत्तिरीय संहिता' है। याज्ञवल्क्य ने तपस्या करके सूर्य से 'शुक्ल यजुर्वेद' प्राप्त किया। सूर्य से प्राप्त होने के कारण ही इसका नाम 'शुक्ल यजुर्वेद' पड़ा और इसके विरोध में तैत्तिरीय शाखा का नाम 'कृष्ण यजुर्वेद' पड़ा। आधुनिक पण्डितों ने दोनों वेदों की विषय-वस्तु पर विचार करके बताया है कि शुक्ल का अर्थ है सुसम्पादित स्पष्ट और साफ जबकि कृष्ण का अर्थ है असम्पादित अस्पष्ट और शिथिल-पिथिल। 'कृष्ण यजुर्वेद' में ऐसे बहुत से अंश हैं जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के अंश-से जान पड़ते हैं। शुक्ल में यह बात नहीं है। यह विशुद्ध मन्त्रों की संहिता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि ब्राह्मण तथा भाष्य इसमें मिल गया है इसलिये इसे कृष्ण या काला कहा गया है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'माध्यन्दिनीय शाखा' ही सम्भवतः पुराना और प्रामाणिक यजुर्वेद है। इसकी उक्त दोनों शाखाओं में अन्तर बहुत कम है। माध्यन्दिनीय शाखा पुरानी मानी जाती है उसी का प्रचार भी अधिक है। आधुनिक पण्डितों का विश्वास है कि इसके अध्यायों में अन्तिम १५ (या ) परवर्ती हैं प्रथम भाग पुराना।

यजुर्वेद में कुछ अंश ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जो यज्ञ-क्रिया की विधियों को बताते हैं जिनमें नाटक-बहुल ऐसे भाव होते हैं जो अभिनय की कोटि में आ सकते हैं। आधुनिक ढंग के विद्वानों ने यज्ञ के सोम विक्रय प्रकरण को और महाव्रत के विविध अनुष्ठानों को एक प्रकार का नाटकीय अभिनय ही माना है। इसी प्रकार अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के भी कुछ ऐसे अनुष्ठान मिल जाते हैं जो नाटकीय अभिनय की कोटि में आ जाते हैं। यह सत्य है कि इन अनुष्ठानों को नाटक नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध नाट्य वह है जहाँ अभिनेता जान-बूझकर किसी दूसरे

व्यक्ति की भूमिका में उतरता है, स्वयं आनन्दित होता है और दूसरों को आनन्द देता है। 'यजुर्वेद' में इस श्रेणी का नाटक खोजना व्यर्थ का परिश्रम-मात्र है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि याज्ञिक क्रिया के अनुष्ठान में ऐसी कुछ बातें आ मिली हैं जो उन दिनों के साधारण जन समाज में प्रचलित नाच-गान और तमाशों से ली गई होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोक-नृत्य और लोक-नाट्य उन दिनों प्रचलित अवश्य थे। 'कौषीतकी ब्राह्मण' (२९।५) में नृत्य-गीत आदि को कलाओं में गिनाया गया है। पारस्कर गृह्यसूत्र में (२ ७-३) द्विजातियों को यह सब करने की मनाही है। इसलिए यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों लोक में बहुत-से नृत्य गीत नाट्य प्रचलित थे। लोग उनकी कद्र भी करते थे परन्तु अत्यन्त नैतिकतावादी ब्राह्मण उनसे बचने का भी प्रयत्न करते थे। वेदों का वातावरण पवित्रता का वातावरण है और ब्राह्मण-विश्वास के अनुसार ऐसा कोई काम द्विजों को नहीं करना चाहिए जिससे चरित्रगत पतन की सम्भावना हो। इस लिये यद्यपि नृत्य नाट्य आदि की मनोरञ्जकता उन्होंने अस्वीकार नहीं की किन्तु उन्हें अच्छे आदमियों के योग्य भी नहीं माना। जो हो शास्त्र में यह बताया गया है कि नाटकों में जो अभिनय-तत्त्व है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। इस वक्तव्य को समझने के लिये जिस प्रकार यह आवश्यक है कि हम समझें कि यजुर्वेद क्या है उसी प्रकार हम यह भी समझें कि नाट्य-शास्त्र में 'अभिनय' किस वस्तु को कहा है।

नाट्य-शास्त्र' में अभिनय शब्द बहुत व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। इसमें नाटक के प्राय सभी तत्त्व आ जाते हैं। वेष-विन्यास भी इससे अलग वस्तु नहीं और रंगमंच की सजावट भी उसके अन्तर्गत आ जाती है। वस्तुत पाठ्य-गान और रस के अतिरिक्त जो-कुछ भी नाटक में किया जा सकता है वह सब अभिनय के अन्तर्गत आता है और पाठ्य गान और रस के भी सभी आश्रय और उपादान अभिनय के अन्तर्गत आ जाते हैं इसलिये नाट्य-शास्त्रीय परम्परा में जब अभिनय शब्द का

। तो नहीं था परन्तु पहाड़ रथ विमान आदि को यथार्थ का कुछ रूप देने के लिये तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस सरकण्डे से बने होते थे जिन पर कपड़ा या चमड़ा चढ़ा दिया जाता था या फिर यन्त्र आदि की सहायता से पर्दों बना लिए जाते थे या फिर अभिनेता ऐसी चेष्टा' करता था जिससे उन वस्तुओं का बोध सहज ही हो जाए (२३ ६-७)। इन्हें क्रमशः सन्धिम व्याजिम और वेष्टिम पुस्त कहते थे। अलङ्कार में विविध प्रकार के माल्य आभरण वस्त्र आदि की गणना होती थी। अङ्ग-रचना में पुरुष और स्त्रियों के चतुर्विध वेष-विन्यास शामिल थे। प्राणियों के प्रवेश को सजीव कहते थे (२३ १६२) परन्तु इन तीनों प्रकार के अभिनयों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्त्विक था। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय में अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती थी।

'यजुर्वेद संहिता' में बताए हुए याज्ञिक विधानों में नि सन्देह अभिनय के ऊपर बताए गए अनेक तत्त्व मिल जाएँगे। इसलिये शास्त्रकार ने अभिनय को 'यजुर्वेद' से गृहीत बताया है। क्योंकि अथर्ववेद में मारण मोहन वशीकरण आदि अभिचार पाए जाते हैं। इनमें जिन लोगों पर ये प्रयोग किए जाते हैं उनके स्वाभाविक किसी का अवधारण होता है जो नाटक के विभावादि के समान ही हैं और साथ ही इसमें मारणादि अभिचारों में स्तम्भ सिहरन कम्पन आदि अनुभाव तथा मति प्रमोद आदि सचारी भाव भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार विभाव-अनुभाव सचारी भाव का योग जिससे रस-निष्पत्ति हुआ करती है इसमें मिल जाता है। अभिनवगुप्त का मत है कि इसीलिये इसका अथर्ववेद से ग्रहण किया हुआ बताया गया है। अथर्ववेद' से रसों के ग्रहण करने का अनुमान भी उचित और सगत है।

## २ विधि और शास्त्र

नाट्य-कर्म के दो पक्ष हैं—विधि और शास्त्र। भरत मुनि ने प्रथम

अध्याय म १२५व श्लोक मे स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति 'यथाविधि और यथाशास्त्र' पूजा करेगा वह शुभ फल प्राप्त करेगा और अन्त म स्वर्ग-लोक म जाएगा —

यथाविधि यथाशास्त्र यस्तु पूजां करिष्यति ।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ (१ १२५)

दूसरे से पाँचवें अध्याय तक विधि पर बड़ा जोर है। विधि-पूर्व कर्म (—६१) से सभी कार्यों को करने को कहा गया है। काष्ठ-विधि (२ ७१) भित्ति-कर्म विधि ( १) द्वार-विधि (३ ७) मण्ड विधान ( ४६ ) मातागिन विधि ( ४ २ २ ) पुष्पाञ्जलि-विधि (४ २६२) नृत्याभिनय-आदि सम्बन्धी वस्तुक विधि (४ २६४) वाद्य-प्रयोग-विधि (४ ३२१) गीतक-विधि (/ ६ ) रङ्गसिद्धि के पश्चात काव्य-निष्पत्ति विधि (५ १४ ) पूर्व रङ्ग विधि (५ १७२ और १०६) इत्यादि अनेक विधियों का उल्लेख है। कई स्थानों पर विधि लिङ् की क्रिया का प्रयोग है। मीमांसकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य केवल विधि से है। जहाँ विधि लिङ का प्रयोग होता है वही श्रुति होती है। नाट्य-शास्त्र इन विधियों पर बहुत जोर देता है और स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप से निर्देश देता है कि यह विधि अवश्य करणीय है। जो इस विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से इसका प्रयोग करता है वह तिर्यक् योनि को प्राप्त होता है और विनाश (अपचय) का शिकार होता है—

यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ (५ १७१)

और—

यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ (१-२८)

पाँचवें अध्याय के बाद विधि का क्रम घटता है। अन्तिम अध्यायों मे यह फिर बहुलता से आने लगता है। स्पष्ट ही 'नाट्य-वेद' का श्रुतित्व इन विधियों मे है। कई स्थानों पर 'अनेकविधियोग'-जैसे

देवता में उसका अभाव है। इसीलिए नाटक जो मनुष्य की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा का उत्तम रूप है देवता लोगों की शक्ति का विषय नहीं है। देवता सिद्धि दे सकता है साधना नहीं कर सकता। नाट्य साधना का विषय है। मनुष्य में जो सर्जनेच्छा या नया कुछ रचने की जो आकांक्षा है, वह उसका विषय है। इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त 'नाट्य-वेद' को भरत मुनि के जिम्मे किया जिन्होंने अपने सौ पुत्रों को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार इतिहास 'नाट्य-वेद' में जोड़ा गया। पाठ्य गीत अभिनय और रस के साथ इतिहास का योग हुआ। शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रथम प्रयोग इन पाँच वस्तुओं को लेकर ही हुआ। भरत मुनि ने इसमें तीन वृत्तियों का योग किया था। ये तीन वृत्तियाँ हैं, भारती सात्वती और आरभटी। भारती वृत्ति "वाक्प्रधाना पुरुष-प्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्य युक्ता" वृत्ति है (२२-५)। इसे भरत-पुत्रों को प्रयोग करने में कठिनाई नहीं हुई। सात्वती "हर्षोत्कटा संहृत-शोकभावा सात्वगुणाभिनयवती त्यागाभियोगयुक्ता' वृत्ति है (२२ १ ११)। इसे भी बिना कठिनाई के अभ्यास किया गया। आरभटी दृप्त-वीर इन्द्रजाल आक्रमण आदि को प्रकट करने वाली वृत्ति है (२२ ५ ५)। भरत-पुत्रों ने इसका प्रयोग भी आसानी से कर लिया। परन्तु चौथी वृत्ति जो कैशिकी है वह उनके वश की नहीं थी। इसमें सुकुमार नाम-सज्जा स्त्री-सुलभ चेष्टाएँ कोमल शृंगारोपचार (२२ ४७) की आवश्यकता थी। भरत-पुत्र इसका प्रयोग नहीं कर सके। ब्रह्मा ने इस कमी को महसूस किया और भरत-मुनि को आज्ञा दी कि कैशिकी वृत्ति को भी इसमें जोड़ें (१ ४१)। भरत मुनि ने कहा कि यह वृत्ति तो पुरुषों के वश की नहीं है इसे तो केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। ब्रह्मा ने तब अप्सराओं की सृष्टि की इस प्रकार 'नाट्य-वेद' में स्त्रियों का प्रवेश हुआ।

इन्द्र के ध्वजारोपण के अवसर पर प्रथम बार चारों वृत्तियों से संयुक्त नाटक खेला गया और प्रसन्न होकर देवताओं ने भरत मुनि को

अनेक उपकरण दिए और रक्षा करने का आश्वासन भी दिया ।

कथा से स्पष्ट है कि पहले नाटक मे स्त्रियो का योग नहीं था । बाद मे जब यह अनुभव किया गया कि नाटक की कुछ क्रियाएँ स्त्रियो के बिना असम्भव है तो नाटक मे स्त्रियो के प्रवेश करने का विधान हुआ ।

दैत्यो ने नाटक के समय उपद्रव शुरू किया । उनसे बचाव के लिए रगपूजा की विधि का समावेश हुआ । इसकी बडी विस्तृत विधि 'नाट्य शास्त्र' म बताई गई है । इस आडम्बरपूर्ण विधान से नाटक मे यज्ञ का गौरव आ गया । पहले नगाडा बजाकर नाटक प्रारम्भ होने की सूचना देने का विधान है । फिर गायक और वादक लोग यथास्थान बैठ जाते थे सम्मिलित गान प्रारम्भ होता था । मृदग वीणा वेणु आदि वाद्यो के साथ नर्तकी का नूपुर झनकार कर उठता था और इस प्रकार नाटक के उत्थापन की विधि सम्पन्न होती थी । आधुनिक पण्डितो मे इसके बारे मे मतभेद है कि यह परदे के पीछे की क्रिया है या बाहर अर्थात् रंग-भूमि की । मतभेद का कारण सदा ग्रीक रगमच की बात सोच-सोचकर भारतीय रगमच को समझने की अवांछित चेष्टा है । शुरू मे ही अव तरण या रगावतरण का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि यह क्रिया रगभूमि मे ही होती थी । फिर सूत्रधार का प्रवेश होता था उसके एक ओर पात्र म पानी लिए भृङ्गारधर होता था और दूसरी ओर विघ्नों को जर्जर करने वाली पताका लिए जर्जरधर होता था । इन दो परि पार्श्वको के साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढता था । परन्तु यह बढना साधारण बात न थी उसमे विशेष गौरवपूर्ण अभिनय हुआ करता था । फिर सूत्रधार भृङ्गार से जल लेकर आचमन प्रोक्षण आदि करके पवित्र हो लेता था । फिर एक विशेष आडम्बरपूर्ण भगिमा के साथ विघ्न को जर्जर करने वाले जर्जर नामक ध्वज को उत्तोलित करता था और इन्द्र तथा अन्य देवताओ की स्तुति करता था । वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को और बाम पैर के अभिनय से विष्णु को नमस्कार करता था ।

प्रीति के लिए ताण्डव का भी विधान है। फिर विदूषक आकर कुछ ऐसी ऊल-जलूल बातें करता था जिससे सूत्रधार के चेहरे पर स्मित हास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी जिससे नाटक के विषय-वस्तु अर्थात् किसकी कौनसी हार या जीत की कहानी अभिनीत होने वाली है ये सब बातें बता दी जाती थीं और तब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्र में ऊपर लिखी गई बातें विस्तारपूर्वक कही गई हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रिया को संक्षेप में भी किया जा सकता है। अगर इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करने का निर्देश देने में भी शास्त्र चूकता नहीं। ऊपर बतायी गई क्रियाओं से यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएँ गन्धर्व दैत्य दानव राक्षस गुह्यक यक्ष तथा अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। 'नाट्य-शास्त्र' के बाद के इसी विषय के लक्षण-ग्रन्थों में यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही गई है। 'दशरूपक' तथा 'साहित्यदर्पण' आदि में तो बहुत संक्षेप में इसकी चर्चा-भर कर दी गई है।[1] इस बात से यह अनुमान होता है कि बाद को इतने विस्तार और

१ उदाहरण के लिए दशरूपक को लिया जा सकता है। वहाँ पूर्वरंग का तो नाममात्र से उल्लेख है। पूर्वरंग का विधान करके जब सूत्रधार चला जाता है तो उसी के समान वेश वाला नट (स्थापक) काव्यार्थ की स्थापना करता है। उसकी वेश-भूषा कथावस्तु के अनुरूप होती है अर्थात् यदि कथावस्तु दिव्य हुई तो वेश भी दिव्य और मर्त्य-लोक की हुई तो वेश-भूषा भी तदनुरूप। सर्वप्रथम उसे काव्यार्थ-सूचक मधुर श्लोकों से रंग स्थल के सामाजिकों की स्तुति करनी चाहिए। फिर उसे किसी ऋतु के वर्णन द्वारा भारती वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। भारती वृत्ति संस्कृत-बहुल वाग्व्यापार है। इसके चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख या प्रस्तावना। वीथी और प्रहसन तो रूपकों के भेद हैं। जैसे वीथी के बताये हुए सभी अंग आमुख में भी उपयोगी हैं।

नाटककार के साथ मर किया नहीं होती होगी। विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके ज़माने में इसकी विस्तृत

प्ररोचना नाटक में कैसे आने वाले रस की प्रशंसा है उसका उद्देश्य होता है सामाजिकों को नाटकीय कथावस्तु की ओर उन्मुख करना। आमुख या प्रस्तावना में सूत्रधार (या स्थापक) नटी, मार्ष (मारिष) या विदूषक से ऐसी विचित्र उक्तियों में बात करता है जिससे नाटक का प्रस्तुत विषय अनायास खिंच आता है। तीन प्रकार से यह बात होती है। सूत्रधार या स्थापक कोई ऐसी बात कह देता है जिसका साम्य नाटक की प्रस्तावित वस्तु से होता है कि कोई पात्र उसी वाक्य को कहता हुआ रंगमंच पर आ जाता है (कथोद्घात) या वह ऋतु-वर्णन के बहाने संकेत से ऐसा कुछ कहता है जिससे पात्र के आगमन की सूचना मिल जाती है (प्रवृत्तक) या वह कहता है—'यह देखो वह आ गया' और पात्र मंच पर आ जाता है (प्रयोगातिशय)। फिर वह वीथी के बताए हुए तेरह अंगों का भी सहारा लेता है। ये तेरह अंग विशेष प्रकार की उक्तियाँ हैं। ये हैं—

(१) उद्घात्यक (गूढ़ प्रश्नोत्तर), (२) अवलगित (एक-दूसरे से सटे हुए कार्यों के सूचक वाक्य) (३) प्रपंच (हँसाने वाली पारस्परिक मिथ्या स्तुति) (४) त्रिगत (शब्द साम्य से अनेक अर्थों की योजना) (५) छलन (चिकनी-चुपड़ी से बहकाना) (६) वाक्केली (आधा कहकर बाकी को बीच में ही छोड़ देना) (७) अधिबल (बढ़-चढ़कर बातें करना) ( ) गण्ड (प्रसंग से भिन्न का उपस्थित हो जाना) (९) अवस्यन्दित (कही बात कहकर बदलने का प्रयत्न) (१ ) नालिका (गूढ़ वचन) (११) असत्प्रलाप (अस-म्बद्ध कथोपकथन) (१२) व्याहार (हँसाने के लिए कुछ-का-कुछ कह देना) और (१३) मृदव (दोष को गुण और गुण को दोष बता देना)।

नाटक समझने वाले सहृदयों के लिये नहीं। जब तक 'नाट्य-शास्त्र' के इस रूप को नहीं समझा जाएगा तब तक इस विशाल ग्रन्थ के महत्त्व का अनुभव नहीं किया जा सकेगा। सबसे पहले 'नाट्य-शास्त्र' नाटक के अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया। इस ग्रन्थ में करण अंगहार, चारी आदि की विधियाँ भी विस्तारपूर्वक समझायी गई हैं, नृत्य गीत और वेष भूषा का भी विस्तृत विवेचन है यह भी अभिनेताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। रंगमंच का विधान अभिनेताओं की सुविधा की ही दृष्टि में रखकर किया जाता था। साधारणतः रंगमंच या प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देवताओं के प्रेक्षागृह कहलाते थे और १०८ हाथ लम्बे होते थे दूसरे राजाओं के प्रेक्षागृह होते थे जो ६४ हाथ लम्बे और उतने ही चौड़े होते थे तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होते थे और उनकी तीनों भुजाओं की लम्बाई ३२ हाथ होती थी। सम्भवतः दूसरी श्रेणी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजभवनों में और बड़े बड़े समृद्धिशाली भवनों में ऐसे प्रेक्षागृह स्थायी हुआ करते थे। 'प्रतिमा' नाटक के प्रारम्भ में ही राजभवन में नेपथ्यशाला की बात आई है। राजा दशरथ के अन्तःपुर में एक नेपथ्यशाला थी जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी हुई थी। साधारण नागरिक विवाह तथा अन्य उत्सवों के समय अस्थायी रूप से छोटी-छोटी प्रेक्षणशालाएँ, जो तीसरी श्रेणी की हुआ करती थी बनवा लिया करते थे। प्रेक्षणशालाओं का निर्माण अभिनेता की सुविधा के लिए हुआ करता था। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रंगभूमि में अभिनय करने वालों की आवाज अन्तिम किनारों तक यथाशीघ्र पहुँच सके और सहृदय दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव-भंगिमा को आसानी से देख सकें।

अभिनव भारती से पता चलता है कि नाट्य-शास्त्र के पूर्ववर्ती टीकाकार ऐसा ही मानते थे कि यह शास्त्र अभिनेता कवि और सामाजिक

को शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। पर स्वयं अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि नाट्य-शास्त्र केवल कवियों और अभिनेताओं को शिक्षित करने के उद्देश्य से ही बना था। उनका मत आरम्भ के पाँच प्रश्नों के विश्लेषण पर आधारित है। लेकिन पूरे नाट्य शास्त्र को पढ़ने पर पूर्ववर्ती टीकाकारों की बात ही मान्य जान पड़ती है।

'नाट्य-शास्त्र' रंगमंच के निर्माण को बहुत महत्त्व देता है। भूमि निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि कील कपाल तृण गुल्मादि को साफ किया जाता था उसे सम और पटपर बनाया जाता था और तब प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। 'नाट्य-शास्त्र' को देखने से पता चलता है कि प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। नाप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगल-सूचक समझा जाता था। सूत्र ऐसा बनाया जाता था जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था या बेर की छाल से बनता था या मूँज से बनता था और किसी वृक्ष की छाल की मजबूत रस्सी भी काम में लाई जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाए तो स्वामी की मृत्यु होती है तिहाई से टूट जाए तो राज-कोप की आशंका होती है चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है? हाथ-भर में टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। इस प्रकार सूत्र-धारण का काम बहुत ही महत्त्व का कार्य समझा जाता था। तिथि नक्षत्र करण आदि की शुद्धि का विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई कषाय वस्त्रधारी हीन वपु, या विकलांग पुरुष मण्डप-स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ कर्म न उत्पन्न कर दे। खम्भा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया खिसक गया या काँप गया तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना मानी

जाती थीं। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में बाधाओं का डर बना रहता था। पद-पद पर पूजा, प्रायश्चित्त और ब्राह्मण भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति-कर्म, माप-जोख, चूना पोतना, चित्र-कर्म, खम्भा गाड़ना, भूमि-शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और श्रद्धा के साथ की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है। उसकी जरा-सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती है। नाटक की सफलता का दारमदार सूत्रधार पर रहता है।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालाएँ बना ली जाती थीं। इन शालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकों का स्थान जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता था उसे रंगभूमि (या संक्षेप में 'रंग') कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करणी या परदा लगा दिया जाता था। परदे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से वेश सजकर अभिनेतागण रंगभूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि+पथ+य) में 'नि' उपसर्ग को देखकर कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि नेपथ्य का धरातल रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह गलत बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि में उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रिया के लिये 'रंगावतार' (रंगभूमि में उतरना) शब्द ही व्यवहृत हुआ है।

## ५. नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढ़ियाँ

'नाट्य-शास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल ग्रन्थ है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बहुत दीर्घकाल से प्रचलित अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ इसमें संगृहीत हुई हैं। इसीलिये 'नाट्य-शास्त्र' का जो

ऊँचे तत्त्व-ज्ञान की बात चलाना वे समझ लेता था। मध्यकाल के निरक्षर सन्तों ने तत्त्व-ज्ञान की जो बातें कही हैं उन्हें देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति भी चकित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई थी उन दिनों नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ साधारण दर्शकों को भी ज्ञात थीं। आजकल जिसे 'क्रिटिकल आडिएंस' कहते हैं वही 'नाट्य-शास्त्र' का लक्ष्यीभूत श्रोता है। २७वें अध्याय में 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाटक का लक्ष्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर उल्लसित न हो सके जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्य भाव के प्रदर्शन के समय दीनता का अनुभव कर सके उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे वेश-भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए कला और शिल्प का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्द-शास्त्र और छन्द-शास्त्र के विधानों से परिचित होना चाहिए, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। 'नाट्य शास्त्र' यह मानता है कि सबमें सभी गुण हों यह सम्भव नहीं है। वयस् सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कम-बेशी होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें अधिक-से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। जवान आदमी शृंगार-रस की बातें देखना चाहता है, वृद्ध लोग धर्म्य आख्यान और पुराणों का अभिनय देखने में रस पाते हैं। 'नाट्य-शास्त्र' इस रुचि-भेद को स्वीकार करता है। फिर भी वह आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रसग्राही बना सकेगा।

## ६ नाट्य-प्रयोग का प्रमाण लोक-जीवन है

यद्यपि नाट्य-शास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह-ग्रन्थ है

नैवास्त्यनिनयमप्राप्ते वाङ्नैपथ्याविर्तमयाः ।
प्रयोगे नैव वर्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ॥ (२६ १२१)

कभी-कभी अभिनेताओं में अपने-अपने अभिनय-कौशल की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कलह उपस्थित हो जाता था। साधारणतः ये विवाद दो कोटियों के होते थे—शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय विवाद का एक सरल उदाहरण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में है। इसमें रस भाव अभिनय भंगिमा मुद्राएँ आदि विचारणीय होती थीं। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमें लोक-जीवन की चेष्टाओं के उपस्थान पर मतभेद हुआ करता था। ऐसे अवसरों पर 'नाट्य-शास्त्र' प्राश्निक (मधेतर) नियुक्त करने का विधान करता है। प्राश्निक के लक्षण 'नाट्य-शास्त्र' में दिए हुए हैं। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता था तो यज्ञविद् कर्मकाण्डी निर्णायक (प्राश्निक) नियुक्त होता था। यदि नाच की भंगिमा में विवाद हुआ तो नर्तक निर्णायक होता था। इसी प्रकार छन्द के मामले में छन्दोविद पाठ-विस्तार के मामले में वैयाकरण राजकीय आचरण के विषय में हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। गान्धर्व विषय या राजकीय अन्तःपुर का आचरण या नाटकीय सौष्ठव का मामला होता था तो राजकीय दरबार के अच्छे वक्ता बुलाए जाते थे। प्रणाम की भंगिमा आकृति और उसकी चेष्टाएँ वस्त्र और आभरण की योजना तथा नेपथ्य-रचना के प्रसंग में चित्रकारों को निर्णायक बनाया जाता था और स्त्री-पुरुष के परस्पर-आकर्षण वाले मामलों में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। भृत्य के आचरण के विषय में विवाद उपस्थित हुआ तो राजा के भृत्य प्राश्निक होते थे (२७-११६)। अवश्य ही जब शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्र के जानकारों की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि नाट्यधर्मी विधियों की कसौटी लोक जीवन ही है।

## ७ शास्त्र के विभिन्न अंग

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि नाट्य वेद में दो वस्तुएँ हैं— विधि और शास्त्र। पाँचवें अध्याय तक पूर्वरंग की विधि विस्तारपूर्वक बतायी गई है। छठे अध्याय में पूर्वरंग विधि के सुन लेने के बाद मुनियों के पाँच प्रश्नों का उल्लेख है।

१ रस क्या है और उसका कारण क्या है?

२ भाव क्या हैं और वे किस वस्तु को भावित करते हैं?

३ संग्रह किसे कहते हैं?

४ कारिका क्या है?

५ निरुक्त किसे कहते हैं?

भरत मुनि ने उत्तर में बताया कि चूँकि ज्ञान और शिल्प अनन्त हैं इसलिए नाट्य का कोई अन्त नहीं है। लेकिन संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह मैं आप लोगों को बताऊँगा। उन्होंने बताया कि सूत्र और भाष्य में जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहे गए हैं उनका संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहलाता है और सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र का संग्रह उन्होंने एक श्लोक में बताया। वह श्लोक है

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः॥

अर्थात् नाट्य-शास्त्र के संक्षेप में इतने अंग हैं

१ रस २ भाव ३ अभिनय ४ धर्मी ५ वृत्ति ६ प्रवृत्ति ७ सिद्धि ८ स्वर ९ आतोद्य १० गान और ११ रंग।

इस सङ्ग्रहश्लोक में भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के ११ अंगों का निर्देश किया है। प्रारम्भ में इनका संक्षेप में विवरण दिया है और बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वस्तुतः इन ११ विषयों का विवेचन ही शास्त्र है। स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन श्लोकों के लिखे जाने के पूर्व इन विषयों पर सूत्र, कारिका और भाष्य लिखे जा चुके थे और इन शब्दों की निरुक्ति भी बताई जा चुकी थी। छठे अध्याय

और आठवें अध्याय में सूत्र भी हैं और कारिकाएँ भी हैं प्रत्येक शब्द की निरुक्ति भी बताई गई है। बाद में इन विषयों की जो व्याख्या की गई है वह बहुत-कुछ भाष्य की शैली पर है। कई श्लोकों को आनुवंश्य कहा गया है। आनुवंश्य अर्थात् वंश-परम्परा से प्राप्त। स्पष्ट ही नाट्य-शास्त्र अपने पूर्व के एक विशाल नाट्य-साहित्य की स्थिति की सूचना देता है। विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के पहले शास्त्रकार ने संक्षेप में इनकी चर्चा कर दी है। उन्होंने बताया है कि शृङ्गार, हास्य आदि आठ रस हैं रति-हास आदि आठ स्थायी भाव हैं इनके अतिरिक्त स्वेद स्तम्भ आदि आठ सात्त्विक भाव हैं। इस प्रकार कुल मिला कर भावों की संख्या ४९ है। काव्य-रसिकों से निकट से भाव काफी परिचित हैं, अतएव हम उनका नाम नहीं गिना रहे हैं। आगे बताया गया है कि अभिनय चार प्रकार के होते हैं—१ आंगिक २ वाचिक ३ आहार्य और ४ सात्त्विक धर्मी दो हैं—१ लोकधर्मी २ नाट्य धर्मी जिन वृत्तियों में नाट्य प्रतिष्ठित होता है वे चार हैं—भारती सात्त्वती कैशिकी और आरभटी प्रवृत्तियाँ पाँच हैं—अवन्ती दाक्षिणात्या मागधी पाञ्चाली और मध्यमा —सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं—दैविकी और मानुषी षड्ज प्रभृति सात स्वर हैं जो मुख और वेणु दोनों ही से निकलते हैं आतोद्य चार प्रकार के हैं—तत अवनद्ध घन और सुषिर। इनमें तार वाले बाजे तत हैं, मृदङ्गादि अवनद्ध हैं, ताल देने वाले घन हैं और वंशी सुषिर (छिद्रयुक्त) है। गान पाँच प्रकार के होते हैं—प्रवेश आक्षेप निष्क्राम्य प्रासादिक और मुखाक्षेप। रंगमंच तीन प्रकार के होते हैं—चतुरस्र विकृष्ट और त्र्यस्र। संक्षेप में यही शास्त्र के विषय हैं—

'एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो नाट्यसंग्रहः ।'

इन्हीं ११ विषयों के विस्तृत विवेचन को नाट्य-वेद या शास्त्र कहा गया है। यह विधि से भिन्न है। इसके अनेक भेदोपभेदों का ज्ञान कराया गया है और युक्तिपूर्वक बताया गया है कि इसका प्रयोग

कब क्यो और कैसे किया जाना चाहिए। विधि अवश्य करणीय है। उसमे तर्क नही किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और ऊहापोह से युक्त है। उसमे शका और समाधान के लिये स्थान है और बौद्धिक विवेचन की गुन्जाइश है।

## ८ वर्तमान नाट्य-शास्त्र

नाट्य-शास्त्र के कई सस्करण प्रकाशित हुए। 'हाल' ने सन् १८६५ मे अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट मे नाट्य-शास्त्र के १८वें २ वें और ३४वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी रेगनाड ने भी नाट्य-शास्त्र के १७वें और १५वें अध्याय और सन् १८८४ मे 'रैटोरिके सस्कृत' मे ६वें और ७वें अध्याय का प्रकाशन कराया। 'निर्णयसागर' प्रेस ने काव्यमाला सीरीज मे पूरा नाट्य-शास्त्र प्रकाशित हुआ और फिर उसके कुछ दिन बाद १९३१ मे काशी मे प बटुकनाथ शर्मा और प बलदेव उपाध्याय ने 'काशी सस्कृत सीरीज' (जो प्राय चौखम्बा सस्कृत सीरीज के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्य शास्त्र का एक दूसरा सस्करण प्रकाशित कराया। सन् १९२६ मे श्री रामकृष्ण कवि ने अभिनवगुप्त की महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनव भारती' के साथ नाट्य-शास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का सम्पादन करके 'गायकवाड ओरियेन्टल सीरीज' मे प्रकाशित कराया। ८वें से १८वें तक के अध्यायो की दूसरी जिल्द सन् १९३४ मे प्रकाशित हुई और तीसरी जिल्द भी अब प्रकाशित हो गई है। श्री कवि ने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न सस्करणो का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका मे दिया है। उस भूमिका म और महामहोपाध्याय प वी वी काणे ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोयटिक्स' मे विस्तारपूर्वक इन सस्करणो मे पाए जाने वाले विभिन्न रूपो और पाठ-भेदो की चर्चा की है। उससे लगता है कि नाट्य-शास्त्र के पाए जाने वाले विभिन्न रूपो मे बहुत अन्तर है।

वर्तमान नाट्य-शास्त्र से यह स्पष्ट है कि नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है।[१] इसमें तथा अन्य अध्यायों में भी अनेक ऐसे गद्यांश प्राप्त हैं जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली में लिखे गए हैं। कम-से कम १४ श्लोक और १६ आर्याएँ आनुवंश्य अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त बतायी गई हैं। कुछ सूत्रानुबद्ध आर्याएँ हैं जो श्लोकरूप में लिखे हुए सूत्रों की व्याख्या हैं। इन्हें सूत्रानुबद्ध या सूत्रानुविद्ध आर्या कहा गया है। लगभग सौ पद्य ऐसे हैं जिन्हें 'अत्र श्लोका' या 'अत्रार्या' कहकर उद्धृत किया गया है और जिनके बारे में अभिनव गुप्त ने कहा है कि वे प्राचीन आचार्यों के कहे हुए श्लोक हैं। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में पूर्व-परम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्य-शास्त्र में कुछ अंश निश्चय ही बहुत पुराना है। स्वयं नाट्य-शास्त्र का लेखक स्वीकार करता है कि वह परम्परागत सूत्रों का हवाला दे रहा है यद्यपि आरम्भिक अध्यायों में वह भी कहता है कि यह सबसे पहला प्रयास है। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में कृशाश्व और शिलालि नाम के दो नट-सूत्रकारों का उल्लेख किया है। यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में मानो प्रयत्न पूर्वक इन दो आचार्यों का नाम छोड़ दिया गया है। सम्भवतः वर्तमान रूप के लेखक या सम्पादक को इस शास्त्र की सर्वप्रथमता सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक लगा हो (भाव-प्रकाशन में वासुकि नाम के एक प्राचीन आचार्य का यह मत उद्धृत किया गया है कि इन्होंने भी भावों से रस का उत्पन्न (रस-सम्भव) होना बताया है और प्रमाण स्वरूप नाट्य-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत किया है जो वर्तमान नाट्य-शास्त्र में 'भवन्ति चात्र श्लोका' कहकर उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि किसी वासुकि नाम के आचार्य की किसी कृति से वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक परिचित अवश्य था

१ अभिनव भारती जिल्द १ ६, पृ १२८।
२ भा प्र पृ ३६-३७।

व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ी।[1] डॉ॰ काणे ने इसके पक्ष में अनेक प्रमाण दिए हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

ऊपर की विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-शास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परम्परा प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परवर्ती भी है। इसका अन्तिम सम्पादन कब हुआ था यह कहना कठिन ही है परन्तु सन् ईस्वी की तीसरी शताब्दी तक उसने यह रूप अवश्य ही ले लिया होगा क्योंकि कालिदास जैसे नाटककार को इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। इस बात के लिये विद्वानों ने प्रमाण दिए हैं।

## ६ नाट्य-शास्त्र के लक्ष्यीभूत पाठक

वर्तमान नाट्य-शास्त्र मूलतः तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। प्रथम (१) और मुख्य लक्ष्य तो अभिनेताओं को शिक्षा देने का है। इन लोगों को नाट्य-शास्त्र में भरत-पुत्र कहना है। नाट्य-शास्त्र का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि से ऊँची मान्यता प्राप्त हो। दूसरे (२) लक्ष्यीभूत श्रोता प्रेक्षक या सामाजिक हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र प्रेक्षकों में अनेक गुणों की आशा रखता है। संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए, इस विषय में नाट्य-शास्त्र ने स्पष्ट रूप से कहा है (२७-२१ और आगे) कि उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिएँ ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल फाकिल्टी' कहते हैं, वैसा होना चाहिए) दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्द-वर्धक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो सके नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक या दर्शक का पद नहीं देना चाहता। इस

१ पृ २१।

उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाट्य शास्त्र अनेक प्रकार की नाट्य-रूढ़ियों का विवेचन करता है और ऐसे नियम बताता है जिनसे दर्शक रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के आकार, इंगित, चेष्टा और भाषा द्वारा बहुत कुछ अनायास ही समझ ले। नाट्य-शास्त्र में ऐसी नाट्य रूढ़ियों का विस्तारपूर्वक संग्रह किया गया है जो दर्शक को रसानुभूति में सहायता पहुँचा सकती हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है अभिनव गुप्त सामाजिक को नाट्य-शिक्षा का उपयुक्त पात्र नहीं मानते। पर यह बात संगत नहीं जान पड़ती। तीसरा (३) सत्पीभूत भोक्ता कवि या नाटककार है। शास्त्रकार नाटकों के निबन्धन की विधियाँ बताता है और कथा के विभिन्न अवयवों और अभिनय की विभिन्न अवस्थाओं के संयोग से चरित्र और घटना-प्रवाह के परस्पर आघात-प्रत्याघात द्वारा विकसित होने वाली नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्म कौशलों का परिचय कराता है। वह आशा करता है कि कवि या नाटककार इन सूक्ष्म कौशलों का अच्छा जानकार होगा और कथा का ऐसा निबन्धन करेगा कि कुशल अभिनेता और सहृदय पाठक प्रेक्षक दोनों को रस ग्रहण करने में आसानी होगी। परवर्ती-काल में नाट्य शास्त्र के बताए हुए विस्तृत नियमों का संक्षेपीकरण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही ध्यान में रखकर छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की गई है। 'दश-रूपक' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य-निबन्धन की विधि बताना है। अभिनेता उसकी दृष्टि में बहुत कम है और सहृदय प्रेक्षक बहुत गौण रूप से है। आगे इसी संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति पर विचार किया जाएगा।

## १ परवर्ती नाट्य-ग्रन्थ

कई परवर्ती आचार्यों ने नाट्य शास्त्र की टीका या भाष्य लिखे थे। इनमें अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। कीर्तिधर, मातृगुप्त, उद्भट, शंकुक आदि की

टीकाओं की चर्चा तो मिल जाती है पर वे अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।

नाट्य-शास्त्र (चौखम्बा संस्करण) के बीसवें अध्याय में रूपक विधान, इक्कीसवें में सन्धियों और उनके अंगों तथा बाईसवें अध्याय में वृत्तियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इन अध्यायों से सामग्री लेकर कई आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है धनंजय का 'दशरूपक' जिस पर उनके भाई धनिक की व्याख्या (वृत्ति) है। ये दोनों आचार्य भाई थे और सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। इनके अतिरिक्त सागर नंदी का 'नाटक लक्षण रत्नकोश' (११वीं शताब्दी) रामचन्द्र और गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण' (१२वीं शताब्दी का अन्त भाग) शारदातनय का 'भाव प्रकाशन' (१३वीं शती) सिंगभूपाल की 'नाटक-परिभाषा' (१४वीं शताब्दी) रूप गोस्वामी की 'नाटक-चन्द्रिका' (१५-१६वीं शताब्दी) सुन्दर मिश्र का 'नाट्य-प्रदीप' (१७वीं शताब्दी) आदि ग्रन्थ हैं। इन सबका आधार भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र ही है। भोजराज (११वीं शताब्दी) ने 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वती कण्ठाभरण' में अन्य काव्यांगों के साथ नाटक का भी विवेचन किया है। हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में भी कुछ नाटकों की विवेचना है। विद्यानाथ के 'प्रताप रुद्र यशोभूषण' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में काव्य के अन्य अंगों के विवेचन के साथ नाट्य विवेचन है। अन्तिम ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है।

इन सभी ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य कवि को नाटक लिखने की विधि बताना है। इनमें कथावस्तु, नायक-नायिका रस-विचार, रूपक-लक्षण आदि का विस्तार है। यद्यपि इन सबका मूल भरत का नाट्य-शास्त्र ही है तथापि इनमें परस्पर मतभेद भी कम नहीं है। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है 'दशरूपक'।

## ११ दशरूपक

'दशरूपक' के लेखक विष्णु-पुत्र धनञ्जय हैं जो मुञ्जराज (९७४-९९५ ई.) के सभासद थे। भरत के नाट्य-शास्त्र को अति विस्तीर्ण

समझकर उन्होंने इस ग्रन्थ में नाट्य-शास्त्रीय उपयोगी बातों को स
करके कारिकाओं में यह ग्रन्थ लिखा। कुछ अपवादों को छोड़
जाए तो अधिकांश कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्दों में लिखी गई हैं। सं
लिखने के कारण ये कारिकाएँ दुरूह भी हो गई थीं। इसीलिये
भाई धनिक ने कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से इस
पर 'अवलोक' नामक वृत्ति लिखी। यह वृत्ति न होती तो धन
की कारिकाओं का समझना कठिन होता। इसलिये पूरा ग्रन्थ
सहित कारिकाओं को ही समझना चाहिए। धनञ्जय और धनिक
का ही महत्त्व है।

भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के बीसवें अध्याय को 'दशरूप-वि
(२० १) या 'दशरूप-विधान' कहा गया है। इसी आधार पर धन
ने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' दिया है। नाट्य-शास्त्र में निम्नलि
दस रूपकों का विधान है—नाटक प्रकरण अंक (उत्सृष्टिक
व्यायोग भाण समवकार वीथी प्रहसन डिम और ईहामृग।
ग्यारहवें रूपक 'नाटिका' की चर्चा भी भरत के नाट्य-शास्त्र और
रूपक में आई है। परन्तु उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना गया है।
ने नाटिका को नाटक और प्रकरण में अन्तर्भुक्त कर दिया है
६४)। परवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने अपने
दर्पण में नाटिका और प्रकरणिका को भी स्वतन्त्र रूपक मानकर
की संख्या १२ कर दी है तथा विश्वनाथ ने नाटिका और प्रकर
उपरूपक मानकर रूपकों की संख्या दस ही मानी है। धनञ्जय ने
का अनुसरण करते हुए नाटिका का उल्लेख तो कर दिया है प
स्वतन्त्र रूपक नहीं माना। रूपकों के भेदक तत्त्व हैं वस्तु, नायक
रस। नाटिका में ये तीनों नाटक और प्रकरण से भिन्न नहीं हैं इ
भरत मुनि ने (२० ६२ ६४) में इसे नाटक और प्रकरण के भा
समाहित कर दिया था। धनञ्जय ने उसी का अनुसरण किया है

रस (अलंकार) रूपों के साथ समानता बताकर स्पष्ट करने का अवसर भी पा गए हैं।

## १२ रूपकों के भेदक तत्त्व

जैसा कि ऊपर बताया गया है धनञ्जय ने कथावस्तु नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को चार प्रकाशों में विभक्त किया है। इनमें प्रथम में कथावस्तु का विवेचन है दूसरे में नायक तीसरे में पूर्वाङ्ग और भारती आदि वृत्तियों और चौथे में रस का विवेचन किया गया है।

यदि वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से रूपकों के भेद की कल्पना की जाय तो स्पष्ट ही बहुतर मोटे भेद स्वीकार करने पड़ेंगे। क्योंकि धनञ्जय के मत से कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—(१) प्रख्यात (इतिहास-गृहीत) (२) उत्पाद्य (कल्पित) और (३) मिश्र। नेता या नायक भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम और (३) नीच। स्वभाव से ये चार प्रकार के भी कहे गए हैं—(१) उदात्त (२) उद्धत (३) ललित और (४) प्रशान्त। पर तीन भेद—उत्तम मध्यम नीच—प्राथमिक हैं। रस आठ हैं—शृङ्गार, वीर, करुण बीभत्स रौद्र हास्य अद्भुत और भयानक। धनञ्जय शान्त रस को नाट्य में नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार वस्तु नायक और रस-भेद से ३ ३× =७२ भेद हो जाते हैं। परन्तु भरत व्यावहारिक नाट्य-प्रयोग के विवेचक थे। उन्होंने उन्हीं दस रूपकों की विवेचना की है जो उनके समय में प्रचलित थे। और किसी ने भी इस प्रकार रूपक का विभाजन नहीं किया।

## १३ विभिन्न रूपकों की कथावस्तु

कोई भी रूपक हो उसमें एक कथा होगी। धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश के उपसंहार में रूपक को 'नेतृ-रसानुगुण्या कथा'

कहा है। रस मुख्य है रस और नेता के अनुकूल ही कथा होती है। कवि कथा को या तो रामायण महाभारत आदि प्रख्यात ग्रन्थों से लेता है या कल्पना द्वारा स्वयं रच लेता है। इस प्रकार प्रख्यात और उत्पाद्य (कल्पित) ये दो भेद हो जाते हैं। कभी कुछ अंश तो इतिहास-गृहीत होता है और कुछ कल्पित। उस हालत में कथा 'मिश्र' कही जाती है। कथा का इस प्रकार तीन श्रेणियों में विभाजन करना आवश्यक है क्योंकि कवि (नाटककार) के लिये यह बात महत्त्व की है। प्रख्यात कथा में वह बहुत-कुछ बन्धन में होता है। कल्पित कथा में ये बन्धन नहीं होते। दोनों के संमाजने के कौशल से भेद होता है। मिश्र कथा में भी बन्धन कुछ-न-कुछ रहता ही है। रूपकों की कथावस्तु इस प्रकार अलग अलग किस्म की हो जाती है—

| रूपक का नाम | कथावस्तु का प्रकार |
|---|---|
| नाटक | प्रख्यात |
| प्रकरण | उत्पाद्य |
| नाटिका | कथा उत्पाद्य किन्तु नायक प्रख्यात |
| भाण | उत्पाद्य |
| प्रहसन | उत्पाद्य |
| डिम | प्रख्यात |
| व्यायोग | प्रख्यात |
| समवकार | प्रख्यात |
| वीथी | उत्पाद्य |
| उत्सृष्टिकांक | प्रख्यात |
| ईहामृग | मिश्र |

## १४ आधिकारिक और प्रासंगिक कथा

एक बार नाटककार जब कथा का आहरण या उपकरण कर लेता है तो उसे सरल या जटिल कथा-रूपों में परिणत कर देता है। यह जरूरी

नहीं है कि सभी कथा-वस्तुएँ जटिल ही हों। पर जो जटिल होती हैं उनमें एक या एकाधिक कथाएँ मुख्य कथा से जुड़ जाती हैं। मुख्य कथा को आधिकारिक और सहायक कथाओं को प्रासंगिक कहते हैं। बहुत-से रूपकों का गठन ऐसा होता है कि उनमें प्रासंगिक कथा आ ही नहीं पाती। ये प्रासंगिक कथाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जो आधिकारिक कथा के समानान्तर दूर तक चलती रहती हैं जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा दूसरी वे जो थोड़ी दूर तक चलकर विरत हो जाती हैं जैसे रामायण में शबरी या जटायु का प्रसंग। पहली को पताका कहते हैं दूसरी को प्रकरी। पताका और प्रकरी में एक और भेद है। पताका में नायक का कुछ अपना स्वार्थ भी होता है किन्तु प्रकरी में नायक या नायिका का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। इस प्रकार कथावस्तु के दो सहायक अंग हैं। इनकी स्थिति केवल जटिल कथावस्तु में ही होती है।

## १५. अर्थप्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—(१) बीज (२) बिन्दु, (३) पताका (४) प्रकरी और (५) कार्य। इनमें पताका और प्रकरी की चर्चा ऊपर हो चुकी है। धनञ्जय ने रूपक की कथावस्तु में आरम्भ की उस स्वल्पोद्दिष्ट बात को बीज बताया है जो रूपक के फल का हेतु होता है जैसे भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह बीज है जिसका फल है द्रौपदी का केश-संयमन रूपी कार्य। इस प्रकार बीज आरम्भ में थोड़े में कहा हुआ कथावस्तु का वह अंश है जो आगे चलकर फलसिद्धि का हेतु बनता है। बीज हेतु है कार्य फल। बिन्दु को धनञ्जय ने इस प्रकार समझाया है कि अवान्तर अर्थ का जब विच्छेद होता है तो मूल कथा से जोड़ने का काम बिन्दु करता है। यह परिभाषा कुछ स्पष्ट नहीं है। कई लोग इसके भ्रम में पड़ जाते हैं और अनेक प्रकार की कल्पना-जल्पना करने लगते हैं। धनिक की वृत्ति में कहा गया है कि

अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजन-सिद्धि का हेतु हुआ करती हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के नाट्य-दर्पण में इन अर्थप्रकृतियों को 'उपाय' कहा गया है। इन पाँच उपायों में दो—बीज और कार्य—अचेतन हैं तीन—बिन्दु पताका और प्रकरी—चेतन हैं। नाट्यदर्पणकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि न तो ये उस क्रम से आते हैं जिस क्रम से उनको गिनाया गया है और न अवश्यम्भावी या अपरिहार्य ही हैं। इनका सन्निवेश यथारुचि किया जाना चाहिए। बहुत-से ऐसे कथानक हो सकते हैं जिनमें पताका या प्रकरी हो ही नहीं बहुत-से ऐसे होंगे जिनमें इनका क्रम उलटा हो सकता है। वस्तुतः ये अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपाय हैं और आरम्भ आदि पाँच बताई जाने वाली अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं।

निम्नलिखित सारणी से अर्थप्रकृतियों का स्वरूप समझ में आ जाएगा—
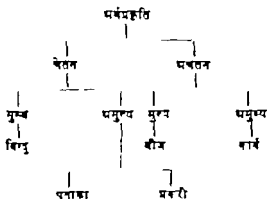
इस प्रकार ये अर्थप्रकृतियाँ 'फल' अर्थात् मुख्य साध्य के हेतुभूत अति निकट उपाय हैं। इनमें बीज नाटक के इतिवृत्त या कथावस्तु का उपाय है। यह मुख्य है क्योंकि यही क्रमशः अनुरणित-सम्वलित होकर कथानक में परिणत होता है। आमुख में नट बीजभूत घटना को कह देता है और बाद के मुख्य कथा का कोई प्रमुख पात्र उसे दुहराता है।

यह कथा की वह स्थिति है जो घटनाओं के प्रवाह में मुख्य पात्र के सम्मुख किसी के द्वारा उपस्थित कर दी गई होती है। यह सोच-विचार कर प्रयत्नपूर्वक किया हुआ पात्र-विशेष का कार्य न होने से उसे अचेतन माना जाता है। फल इस बीज के पल्लवित-पुष्पित होने से उपस्थित होता है। बीज मुख्य है, फल अमुख्य। पताका प्रकरी और बिन्दु चेतन प्रयत्न हैं जो समझ-बूझकर नाटककार द्वारा संयोजित होते हैं। इनमें भी बिन्दु मुख्य होता है। नाटक का घटना-प्रवाह जब-जब अभीष्ट दिशा से हटकर दूसरी ओर मुड़ने लगता है, भटकने लगता है तब तब नाटककार नायक प्रतिनायक सहचरी आदि पात्रों की सहायता से उसे अभीष्ट दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। इसीलिये यह सारे कथाभाग में विद्यमान रहता है। पताका प्रकरी और बिन्दु, कवि के अनुध्यात लक्ष्य तक ले जाने वाले साधन हैं, इसीलिये इन्हें 'चेतन' माना गया है। पताका और प्रकरी कथानक में रहें ही यह आवश्यक नहीं है, पर बिन्दु रहता है। वस्तुतः बीज बिन्दु और कार्य ये तीन आवश्यक अर्थप्रकृतियाँ हैं। बीज पर कवि का नियन्त्रण नहीं होता परन्तु बिन्दु उसके उस यत्नपूर्वक नियन्त्रण का ही नामान्तर है जो कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ता रहता है। ये दो मुख्य हैं।

बिन्दु पात्रों की कवि-निबद्ध चेतन चेष्टाएँ हैं पर कार्य अचेतन साधन जैसे सैन्य-सामग्री दुर्ग कोष बल आदि। किसी वृक्ष का रूपक मान लें तो बीज बीज है बिन्दु, उसे सुरक्षित पल्लवित पुष्पित करने का मोड़ रूप प्रयत्न है कार्य पुष्पादि भार आदि हैं। पताका किसी स्वार्थसिद्धि के प्रतिदान में नियुक्त माली है और प्रकरी कदाचित्-कदाचित् अनायास उपस्थित होकर सहायता कर जाने वाला हितैषी।

## १६ पाँच अवस्थाएँ और पाँच सन्धियाँ

नाट्य के अनुसार फल की इच्छा वाले नायक आदि के द्वारा आरम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ प्रयत्न

प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम। दूसरे आचार्य इन्हें नेता के चरित्र (वृत्त) की पाँच अवस्था कहते हैं। भरत ने इन्हें नायक के व्यापार की अवस्थाएँ कहा है (२१७)। धनंजय ने भरत का ही अनुसरण किया है। वस्तुतः वृत्त और व्यापार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पात्र जो कुछ करता है (व्यापार कार्य) वही उसका चरित है। नायक के व्यापार की ये पाँच अवस्थाएँ हैं जो कथावस्तु में क्रम ग्रहण करती हैं। ये स्वयं कथावस्तु नहीं हैं कथावस्तु में क्रमशः विकसित होने वाले नायक-व्यापार या नायक के कार्य के सिवा और भी बहुत-सी बातें होती हैं।

इस प्रकार अर्थप्रकृतियाँ कथानक के अभीष्ट लक्ष्य तक ले जाने के लिए नाटककार द्वारा निबद्ध उपाय हैं और अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं। नेता या नायक के मन में फल-प्राप्ति के लिये औत्सुक्य (प्रारम्भ) उसके लिये प्रयत्न (प्रयत्न) उसके प्राप्त होने की आशा (प्राप्त्याशा) विघ्नों के समाप्त हो जाने से उसके प्राप्त होने की निश्चितता (नियताप्ति) और उसकी प्राप्ति (फलागम) ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। ये नाटक को विविध भाव और घटनाओं से समृद्ध करती हैं। किन्तु कवि या नाटककार का सबसे बड़ा कौशल बिन्दु की योजना में प्रकट होता है। इसी उपाय के द्वारा वह कथा को अवान्तर प्रसंगों में बहकने से रोकता है और नायक की प्रयत्नादि अवस्थाओं को जागरूक बनाए रखता है। नाट्य-रचना कठिन काम है। बिन्दु-विधान भी कठिन साधना है। जरा भी कथा बहकी तो सँभालना मुश्किल हो जाता है। जरूरत पड़ने पर नाटककार पताका और प्रकरी-जैसे चेतन उपायों का आश्रय लेता है और कार्य जैसे अचेतन उपादान (सैन्य कोष आदि) का भी सहारा लेता है। पर बिन्दु-विधान सर्वत्र आवश्यक होता है। 'अर्थ प्रकृति' में अर्थ शब्द का तात्पर्य है पूरा नाटकार्थ और 'प्रकृति' शब्द का तात्पर्य है प्रकार या उपाय। धनञ्जय की अपेक्षा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसे अधिक स्पष्टता से समझाया है।

## १७ पाँच सन्धियाँ

भरत ने नाट्य-शास्त्र में कहा है कि इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है और पाँच सन्धियाँ उसके पाँच विभाग हैं। धनंजय के अनुसार किसी एक प्रयोजन द्वारा अन्वित कथा भागों को किसी दूसरे प्रयोजन से युक्त करने वाला सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। ये पाँच हैं, (१) मुख (नाना अर्थों और रसों की हेतुभूता बीजोत्पत्ति) (२) प्रतिमुख (बीज का उद्भेद या फूटना) (३) गर्भ (दिखकर अदृष्ट हो गए बीज का अन्वेषण (४) अवमर्श या विमर्श (बीज गर्भ का पुन प्रकट होना) और (५) उपसंहृति या निर्वहण (बिखरे अर्थों का एक उद्देश्य की ओर उपसंहरण)। धनंजय ने एक विवादास्पद कारिका में कहा है कि पाँचों अर्थप्रकृतियाँ पाँचों अवस्थाओं से समन्वित होकर क्रमात पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं। यह बात भ्रम पैदा करने वाली सिद्ध हुई है। अर्थप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ 'यथासंख्य' गठबन्धन ठीक नहीं बैठता। पताका एक अर्थप्रकृति है प्रकरी दूसरी। पताका के बाद प्रकरी को गिनाया गया है। पताका का उदाहरण है रामायण में सुग्रीव की कथा प्रकरी का उदाहरण है शबरी की कथा। लेकिन रामायण में पताका बाद में आती है प्रकरी पहले। क्रम कहाँ रहा ? बिन्दु एक अर्थप्रकृति है। यह नाटक में सर्वत्र रहता है। उसे किसी एक अवस्था के साथ कैसे बाँधा जा सकता है। भरत के नाट्य-शास्त्र में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। सन्धियों को अवस्था का अनुगामी अवश्य बनाया गया है। अर्थप्रकृतियों से उनका सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि पताका में भी सन्धियाँ होती हैं। नाट्यदर्पणकार ने उन्हें अनुसन्धि कहा है और स्वयं धनंजय ने भी अन्यत्र उन्हें अनुसन्धि कहा है। इसलिए धनंजय की उक्त कारिका जिसमें अर्थप्रकृतियाँ और

१ अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।

—दशरूपक १ २२-२३

अवस्थाओं—दोनों के साथ सन्धियों का सम्बन्ध किया गया है भ्रामक है। उसकी भरतमतानुयायी व्याख्या—थोड़ी कष्ट-कल्पना के साथ—इस प्रकार की जा सकती है—'अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं। अवस्थाएँ भी पाँच हैं। इनके समन्वित रूप से इतिवृत्त बनता है। उसके पाँच विभाग होते हैं जो सन्धि कहलाते हैं। ये सन्धियाँ अवस्थाओं के क्रम से होती हैं। इस प्रकार की व्याख्या में 'यथासंख्येन' का अन्वय 'पंचावस्था' से किया जाएगा। परन्तु ऐसा अर्थ कष्ट-कल्पित ही है।

वास्तव में सन्धियाँ कथावस्तु के भाग हैं। कुल मिलाकर इनके ६४ अंग हैं जो सन्ध्यंग कहे जाते हैं। धनंजय ने अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं का साथ-साथ उल्लेख करके अपने ग्रन्थ के पाठकों में कुछ भ्रम अवश्य उत्पन्न किया है। कीथ ने 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत ड्रामा' नामक ग्रन्थ में कहा है कि 'सन्धियों का विभाजन तो ठीक है क्योंकि इसमें नाटकीय संघर्षों पर जोर दिया गया है। इस विभाजन का उद्देश्य है कि किस प्रकार नायक विघ्नों को जीतकर फल-प्राप्ति की ओर बढ़ता है। परन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन बेमतलब का जान पड़ता है। फिर पाँच सन्धियों का पाँचों अवस्थाओं और पाँचों अर्थप्रकृतियों के साथ जोड़ना दोषपूर्ण है।

स्पष्ट है कि धनंजय का उल्लेख इस प्रकार की भ्रान्त आलोचना का कारण है। कीथ की आलोचना नाट्य-शास्त्र की नहीं है दशरूपक की आलोचना है। वस्तुतः जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है अर्थ-प्रकृतियाँ कथा के उचित संघटन के उपाय हैं, अवस्थाएँ नाटक के नायक की फलप्राप्ति-जन्य क्रियाओं की अवस्थाएँ हैं और सन्धियाँ इन अवस्थाओं को अनुकूल दिशा में ले जाने वाले उस घटनाचक्र के जो अर्थप्रकृतियों से मिलकर पूरा इतिवृत्त या कथानक बन जाता है विभिन्न भाग हैं। इनके ६४ अंगों का नाट्य-शास्त्र और दशरूपक आदि

ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णन है। नीचे की तालिका से इन सन्धियों और सन्ध्यंगों का सामान्य परिचय हो जाएगा—

| सन्धियाँ | अंग |
|---|---|
| मुख | १ उपक्षेप २ परिकर ३ परिन्यास ४ विलोभन ५ युक्ति ६ प्राप्ति ७ समाधान ८ विधान ९ परिभावना १० उद्भेद ११ भेद १२ करण। |
| प्रतिमुख | १३ विलास १४ परिसर्प १५ विधूत १६ शम १७ नर्म १८ नर्मद्युति १९ प्रगमन २० निरोध २१ पर्युपासन २२ वज्र २३ पुष्प २४ उपन्यास २५ वर्णसंहार। |
| गर्भ | २६ अभूताहरण २७ मार्ग २८ रूप २९ उदाहरण ३० क्रम ३१ संग्रह ३२ अनुमान ३३ तोटक ३४ अधिबल ३५ उद्वेग ३६ संभ्रम ३७ आक्षेप। |
| विमर्श (अवमर्श) | ३८ अपवाद ३९ संफेट ४० विद्रव ४१ द्रव ४२ शक्ति ४३ द्युति ४४ प्रसंग ४५ छलन ४६ व्यवसाय ४७ विरोधन ४८ प्ररोचना ४९ विचलन ५० आदान। |
| निर्वहण | ५१ सन्धि ५२ विबोध ५३ ग्रथन ५४ निर्णय ५५ परिभाषण ५६ प्रसाद ५७ आनन्द ५८ समय ५९ कृति ६० भाषा ६१ उपगूहन ६२ पूर्वभाव ६३ उपसंहार ६४ प्रशस्ति। |

## १८ सन्ध्यंग का प्रयोग आवश्यकतानुसार

इन सभी अंगों का नाटक में प्रयोग अनिवार्य नहीं है। भरत ने नाट्यशास्त्र ( ११ [illegible] ) में कहा है कि क्वचित् कदाचित् ही सभी अंग किसी एक ही रूपक में मिलें। कभी-कभी दो-तीन से भी काम चल जाता है। कार्य और अवस्था को देखकर इन अंगों का प्रयोग करना चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण बात [illegible] भूल गए हैं। फिर भी उन्होंने मान लिया है कि कुछ खास प्रयोजन हैं जिनके लिए इन सन्ध्यंगों का प्रयोग किया जाता है। ये प्रयोजन छः हैं—अभीष्ट अर्थ की रचना

## ११ दृश्य और सूच्य अंश

नाटक और अन्य रूपक यदि दृश्य काव्य न होते तो कथावस्तु की विवेचना यहीं समाप्त हो जाती। परन्तु नाटककार और अभिनेता की कठिनाइयाँ अनेक हैं। बहुत बड़ी कथा को उन्हें थोड़ी देर में दिखाना पड़ता है। सभी प्रसंग मार्मिक नहीं होते पर दर्शक को सभी बातें न बताई जाएँ तो कथानक उसकी समझ में ही न आए। इसलिए नाटककार कुछ मार्मिक अंशों को रंगमंच पर दिखाने के लिये चुन लेता है और कुछ को किसी-न-किसी कौशल से सूचित कर देता है। इस प्रकार कथा के दो भाग हो जाते हैं—दृश्य और सूच्य। दृश्य अंश का विभाग अंकों में होता है। 'अंक' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है यह केवल अनुमान का विषय है। संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। इसका चिह्न गोद आदि अर्थ परिचित ही हैं परन्तु नाटक के 'अंक' से इसका सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। भरत मुनि ने लिखा है (२० १४) कि यह रूढ़ि शब्द है। भाव और अर्थों के द्वारा नाना विधानयुक्त होकर अर्थों का आरोहण कराता है इसलिए इसे अंक कहते हैं। इसका एक पुराना अर्थ उतार चढ़ाव बताने वाला घुमाव भी है। कदाचित् नाटकीय घटनाओं के आरोह-अवरोह को प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता रहा हो। यवन-नाट्याचार्यों की भाँति भरत भी एक दिन में समाप्त होने वाली घटना को ही एक अंक में लेने का निर्देश करते हैं। सभी रूपकों में अंकों की संख्या एक ही तरह की नहीं होती। कुछ तो एक ही अंक में समाप्त हो जाते हैं। नाटक और प्रकरण में ५ से १० तक अंक हो सकते हैं इसलिये अवस्थाओं और संधियों से कठोरतापूर्वक नियद्ध नहीं हो सकते। अंकों में महत्त्वपूर्ण कार्य या प्रसंग ही दिखाए जाते हैं। जो बातें साधारण होती हैं उन्हें कुछ कौशलों से सूचित मात्र कर दिया जाता है। प्राय दो अंकान्तर पात्रों की बातचीत से (विष्कम्भक प्रवेशक) या नाटक के किसी अंक में अभिनय करने वाले पात्रों द्वारा ही (अंकमुख अंकावतार) या पर्दे के पीछे से

कुछ रूपकों में नायक उदात्त होते हैं कुछ के प्रशान्त कुछ के ललित और कुछ के उद्धत। भरत मुनि के गिनाए रूपकों में कुछ ऐसे भी हैं जिनके नायक इन कोटियों में नहीं आ पाते। वस्तुतः पूर्णांग रूपक दो या तीन ही हैं—नाटक प्रकरण नाटिका। नाटक और प्रकरण में वस्तु का भेद है नाटक की कथावस्तु इतिहास-प्रथित होती है और प्रकरण की कल्पना या कवि-कल्पित। नाटिका दोनों के मिश्रण से बनती है। उसका नायक तो प्रख्यात होता है पर कथावस्तु कल्पित। इनमें सब सन्धियों का समावेश होता है और सब अवस्थाएँ मिलती हैं। इनके नायकों में भी अन्तर होता है। नाटक का नायक धीरोदात्त होता है प्रकरण का धीरप्रशान्त और नाटिका का धीरललित। रस तीनों में शृंगार होता है। नाटक और प्रकरण में वीर भी। इससे स्पष्ट है कि पूर्णांग रूपकों में दो ही रस आते हैं—शृंगार और वीर। नायक इनमें तीन प्रकार के होते हैं उदात्त प्रशान्त और ललित। इनमें धीरोदात्त नायक महासत्त्व अत्यन्त गम्भीर क्षमाशील अविकत्थन (अपने बारे में बढ़-चढ़कर बात न करने वाला) स्थिर, भीतर-ही भीतर मानी दृढ़व्रत होता है। धीरललित कोमल प्रकृति का कला-प्रेमी निश्चिन्त और सुखी होता है। धीरप्रशान्त भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है लेकिन ब्राह्मण मन्त्री या वैश्य के घर उत्पन्न हुआ होता है। प्रथम दो राजवंश के होते हैं। धीरोदात्त राजा ही होता है। चौथा नायक धीरोद्धत कहलाता है। वह भी कुछ रूपकों का नायक होता है। नाटक में वह प्रतिनायक होता है। साधारणतः देवता या दानव जिनमें दैवी शक्ति होती है उदात्त नायक की तरह धैर्यवान् नहीं होते। वे अति चपल और चण्ड होते हैं। उन्हें फल-प्राप्ति के लिये धैर्य नहीं होता। डिम व्यायोग और ईहामृग में ये नायक होते हैं। इनकी कथावस्तु के स्वभाव के कारण ही ये रूपक पूर्णांग नहीं हो पाते। इनमें वीर रौद्र आदि दीप्त रस तो आ जाते हैं पर शृंगार और हास्य नहीं आ पाते। समवकार में भी इनका बाहुल्य होता है। उसमें भी शृंगार की अपेक्षा

मात्र ही होती है। उद्धत नायकों के स्वभाव के कारण ही व्यायोग और ईहामृग में गर्भ और विमर्श तथा समवकार और डिम में विमर्श सन्धि नहीं होती।

इस प्रकार नेता या नायक कथावस्तु का नियमन करता है। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक हो तो इतिवृत्त के उन प्रसंगों को छोड़ देना चाहिए जो उसके उदात्त भाव के बाधक हों। उद्धत नायकों के लिये कथावस्तु में से विशेष-विशेष सन्धियां भी छोड़ देना पड़ता है। जिन रूपकों में धीरोद्धत नायक होते हैं वे पूर्णांग नहीं बन पाते। डिम व्यायोग समवकार और ईहामृग इसी प्रकार के रूपक हैं। बाकी चार में भाण और प्रहसन तो एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होते हैं। इनमें नायक स्वयं मंच पर नहीं आते। शृंगार और वीर यहाँ मुख्य रस हैं। जिन व्यक्तियों की चर्चा होती है उनका कोई रूप विधान नहीं होता। यही बात बहुत-कुछ वीथी और उत्सृष्टिकांक के बारे में भी ठीक है। वस्तुतः ये तमाशे ही रहे होंगे। सही अर्थों में ये रूपक नहीं कहे जा सकते। दशरूपककार ने रूपक की परिभाषा में कहा है कि अनुकार्य के रूप का समारोप होने से यह रूपक कहा जाता है। इन पर अनुकार्य का आरोप अस्पष्ट होता है। उतना आरोप तो काव्य-पाठक और कथावाचक पर भी किया जा सकता है। जो हो ये चार अस्पोद्भिन्न रूपक ही कहे जा सकते हैं।

## २१ वृत्तियाँ

नाटक में सभी प्रकार के अभिनय मिलते हैं, प्रकरण और नाटिका में भी। इन तीनों में सभी वृत्तियाँ मिलती हैं। बाकी में केवल तीन। अन्तिम चार अर्थात् भाण प्रहसन वीथी और उत्सृष्टिकांक में प्रधान रूप से भारती वृत्ति ही मिलती है। वृत्तियाँ नाट्य की माता कही जाती हैं। ये चार हैं—सात्वती में मानसिक वाचिक और आंगिक अभिनय होते हैं। यह मुख्यतः मानस-व्यापार की वृत्ति है। इसका प्रयोग रौद्र वीर

नीचे की तालिका से रूपकों के रस नायक कथावस्तु, अंक और वृत्तियों का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

| रूपक-नाम | वस्तु | रस | अंक | वृत्तियाँ |
|---|---|---|---|---|
| नाटक | प्रख्यात | अंगी—वीर या शृंगार<br>अंग—बाकी सभी रस | पाँच से दस तक | चारों (कैशिकी आरभटी सात्वती भारती) |
| प्रकरण | उत्पाद्य | | | |
| नाटिका | वस्तु उत्पाद्य (प्रकरण के समान)<br>नेता प्रख्यात (नायक के समान) | शृंगार | चार | |
| भाण | उत्पाद्य | शृंगार, वीर | एक | कैशिकी से भिन्न बाकी तीन |
| प्रहसन | | हास्य | एक | |
| | | वीर रौद्र बीभत्स, | चार | „ |
| डिम | प्रख्यात | करुण भयानक अद्भुत | | |
| व्यायोग | | | एक | |
| समवकार | | वीर रौद्र शृंगार (आभासमात्र) | तीन | |
| वीथी | उत्पाद्य | शृंगार | एक | „ |
| अंक | प्रख्यात | करुण | एक | „ |
| ईहामृग | मिश्र | रौद्र शृंगाराभास | चार | „ |

## २२ रस

भारतीय नाट्य-परम्परा में नायक 'फल' भोक्ता को अर्थात् नाटक के फल को प्राप्त करने वाले को कहा गया है जबकि आधुनिक नाट्यशास्त्री नायक या नायिका उसे मानते हैं जिसके साथ सामाजिक की सहानुभूति हुआ करती है। इसमें नाट्यकार द्वारा प्रयुक्त कौशल है एवं ऐसी शक्ति केन्द्रित होती है जो निपुण अभिनय के द्वारा उपस्थित किए जाने पर सामाजिकों की समवेदना और सामान्यानुभूति आकर्षित करती है। खलनायक सहानुभूति नहीं पाता। उसमें कुछ ऐसा औद्धत्य या *आचरणगत अनौचित्य होता है जो सामाजिक की वितृष्णा और क्षोभ* को उत्पन्न करता है। भरत द्वारा निर्धारित रूपकों में नाटक और प्रकरण के नायक नायिका और प्रतिनायक इस कोटि के कहे जा सकते हैं। ऊपर जो तीन श्रेणी के रूपक बताये गए हैं उनमें प्रथम और उत्तम श्रेणी के नाटकों में केवल दो ही रस हैं—शृंगार और वीर। ये ही दो रस मुख्य हो सकते हैं। दो रस और भी मुख्य कहे गए हैं—रौद्र और बीभत्स। इस प्रकार चार रस ही मुख्य बताये गए हैं—शृंगार वीर, रौद्र और बीभत्स। इनके अभिनय में क्रमशः विकास विस्तार क्षोभ और विक्षेप होता है। बाकी चार इन्हीं चारों से होते हैं। शृंगार से हास्य वीर से अद्भुत बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण (दशरूपक ४१ ४५) इस प्रकार ये आठ रस बनते हैं। सामाजिक के चित्त में विकास और विस्तार होता है तो उसे सुख मिलता है और क्षोभ और विक्षेप होता है तो दुख। इसलिए कुछ आचार्य रस को सुख दुःखात्मक बताते हैं। दूसरे आचार्य ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि ये विक्षेप और क्षोभ लौकिक विक्षेप और क्षोभ से भिन्न होने के कारण आनन्दजनक ही होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि शृंगार रस से चित्त में विकास और वीर रस से विस्तार होता है। इन दो रसों का नायक अनायास ही सामाजिक की समवेदना और सहानुभूति आकर्षित करता है। यही कारण है कि पूर्वोक्त रूपकों में इन दो रसों का ही

प्राधान्य है। विकास और विस्तार को एक शब्द मे 'विस्फार' कहा जाता है। इस विस्फार के कारण नाटक मे वीर और शृंगार रस मुख्य होते हैं। नाटक और रसो से बनता ही नही। पाश्चात्य नाट्य शास्त्रो मे त्रजेडी (ट्रजडी) श्रेणी के नाटको का महत्त्व है। परन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्रियो ने 'करुण रस को नाट्य-रस मानते हुए भी ऐसे उत्तम कोटि के रूपको की कल्पना भी नहीं की जो शोकान्त हो। परन्तु नाटक मे यदि नायक या नायिका उसे माना जाए जो सामाजिको की सहानुभूति आकृष्ट कर सके तो ऐसे नायक भी सामाजिक की सहानुभूति आकृष्ट कर सकते हैं जो चरित्र-बल मे तो उदात्त हो पर किसी दुर्बलता—जैसे आदमी म पहचानने की क्षमता दैववश अनुचित कार्य कर बैठने की भूल अत्यधिक औदार्य आदि—से कष्ट मे पड जाते हो। पश्चिमी देशो मे ऐसी परिस्थितियो के शिकार उदात्त और ललित अभी के नायको की कल्पना की गई है। इस समय उनका स्थायी भाव शोक ही नही होता। कई बार नायक के चित्त मे उत्साह रति आदि भाव ही प्रबल होते हैं केवल परिणाम अनिष्ट प्राप्ति होता है। सामाजिक के चित्त का सहानुभूतियुक्त बनाने के हेतु नायक के स्वभाव मे स्थित मानवीय गुण ही होते हैं उसके दुःख पाने से सामाजिक के चित्त मे जो क्षोभ पैदा होता है वह उसे और भी तीव्रता के साथ नायक की ओर ठेलता है। इस प्रकार के रूपको की कल्पना भारतीय नाट्य-परम्परा मे नही हुई। उत्सृष्टिकाङ्क आदि मे यह रस भारती वृत्ति द्वारा सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष होता है। अविकृततर प्रथम रूप मे इसका चित्रण कर दिया जाता है। इसलिये ऐसे नायक भी इस परम्परा मे नही मिलते।

कुछ आचार्य केवल शृंगार रस को ही एकमात्र रस मानते हैं। इसका कारण यह है कि यही एकमात्र रस है जहाँ सहृदय आश्रय और आलम्बन दोनो से तादात्म्य स्थापित कर सकता है और किसी पक्ष को पराभव की अनुभूति नहीं होती। वीर रस भी इनके मत से एक

पक्ष का पराभव होने के कारण अपूर्ण रह जाता है। भरत ने स्पष्ट ही नाट्य में आठ रस स्वीकार किये हैं। इसीलिए यह मत भारतीय परम्परा में पूर्णतया मान्य नहीं हो सका।

## २३ भाव-जगत्

भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में बताया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भावों की संख्या उन्होंने ४९ बताई है जिनमें आठ स्थायी भाव हैं, आठ सात्त्विक भाव हैं और तेंतीस संचारीभाव। स्थायीभाव ही विभाव-अनुभावादि से

१ काव्य के सुनने के साथ हम भाव-जगत् की सूक्ष्म मूर्तियों और भावों का निर्माण करते रहते हैं। इन्हीं भावात्मक आलम्बन, उद्दीपन आदि के भावों का हम अनुभव करते रहते हैं। कवि में ऐसी सामर्थ्य होती है कि जिस भाव के साथ वह हमारा जैसा-जैसा भाव जगाना चाहता है वैसा वैसा भाव हमारे मानस-लोक में निर्मित करा लेता है। इन भावात्मक मूर्तियों और भाव-भावना का जब ऐसा मिश्रण होता है कि किसी का पृथक् ज्ञान नहीं रह जाता तब मिलकर एक विशेष भावन प्रक्रिया से एकाकार हो जाते हैं तो हम रसास्वादन की स्थिति में आ जाते हैं। स्पष्ट ही यह बात लौकिक स्थूल जग से भिन्न है। इसलिए इसे 'लोकोत्तर' कहा जाता है। काव्य का श्रोता अपने ही चित्त से अपनी ही अनुभूतियों के सहारे सारे भाव-जगत् की सृष्टि करता रहता है। इसलिये कहा जाता है कि वह जितना ही सहृदय होगा उतना ही अधिक रसास्वादन का सुपात्र होगा।

काव्य में केवल शब्द और अर्थ होता है। दूसरा कोई माध्यम नहीं होता। शब्द के द्वारा गृहीत लौकिक स्थूल अर्थ सहृदय के हृदय में भाव-रूप में परिणत होता रहता है। कुछ ऐसी कलाएँ हैं जहाँ शब्द होता ही नहीं, जैसे चित्रकला। वहाँ कलाकार के द्वारा प्रयुक्त रंग और रेखाएँ अर्थ-बोध कराती हैं। चित्र-लिखित पर्वत स्थूल पर्वत

संयोग से रस दशा तक पहुँचता है (दशरूपक)। दशरूपक के लेखक धनंजय स्थायी भावों और सात्त्विक भावों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। पर अन्य नाट्य-शास्त्रियों ने उनका अलग उल्लेख किया है। शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है वीर का उत्साह रौद्र का क्रोध बीभत्स का जुगुप्सा हास्य का हास अद्भुत का विस्मय करुण का शोक और भयानक का भय। इनका और संचारीभावों का विशेष विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में इनकी विशेष विस्तार से चर्चा है ('दशरूपक' चतुर्थ प्रकाश 'साहित्य-दर्पण' चतुर्थ इत्यादि)। यहाँ रस के स्वरूप के विषय में समझने का थोड़ा प्रयत्न किया जा रहा है।

का अर्थ देता है। फिर सहृदय के मन में भाव-जगत् का पर्वत बनता है और चित्रकार जिस प्रकार की गरिमा अर्थरूपता चेतना या सौन्दर्य जागृत करना चाहता है उसी प्रकार के भाव-रूप सहृदय के चित्त में उत्पन्न होते रहते हैं। नाटक अधिक जटिल कला है। उसमें कवि और सहृदय का सम्बन्ध अभिनेता द्वारा स्थापित होता है। एक माध्यम और बढ़ जाता है। कवि-निबद्ध अर्थ पहले अभिनेता के भाव-रूप को उद्बुद्ध करते हैं और फिर उस भाव-रूप को वह स्थूल मूर्त आकार देता है। यह स्थूल मूर्त आकार फिर एक बार सहृदय के चित्त में नये सिरे से भाव-रूपों का निर्माण करता है। इसलिये नाटक में वस्तुतः दो कलाकारों के चेतन मन से छनकर सहृदय का भाव-जगत् निर्मित होता है इसीलिये अधिक आस्वाद्य होता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' (११) में कहा है कि गुण-अलंकार से काव्य का शरीर मनोहर होता है और रस उसका प्राण हुआ करता है। ऐसे श्रव्य-काव्य में भी तन्मयीभाव के कारण यद्यपि चित्तवृत्ति निमग्नाकार हो जाती है किन्तु उसमें (अभिनीयमान नाटक के समान) प्रत्यक्ष की भाँति साक्षात्कारात्मक बोध नहीं हो पाता। परन्तु नाटक में ऐसी प्रतीति हुआ करती है।

समझते । मीमांसकों के इस मत का मूल है यह सूत्र—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' । (शब्द जिसके लिये प्रयुक्त होता है वह शब्दार्थ होता है।) इसका एक मतलब यह हो सकता है कि जिस अर्थ को बोध कराने के लिये शब्द प्रयुक्त होता है वही उसका अर्थ होता है (तदर्थत्व) दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि शब्द सम्बन्ध-मर्यादा से सीमित रहकर जिस अर्थ की सूचना देता है वही उसका अर्थ होता है (तत्परत्व)। पहले अर्थ की व्यापकता स्पष्ट है। परन्तु मीमांसक सम्बन्ध-मर्यादा को भी मानते हैं। इसलिये जिसे वे 'तात्पर्य' कहते हैं वह सीमित हो जाता है। उससे व्यंजनावृत्ति का काम नहीं चल सकता क्योंकि व्यंजनावृत्ति संसर्ग-मर्यादा से बँधी नहीं होती। दशरूपककार तात्पर्यवृत्ति को पहले अर्थ में लेते हैं। उनकी दृष्टि में तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। वे तात्पर्य और तादर्थ्य में भेद नहीं करते। ऐसा मान लेने पर भी व्यंजनावृत्ति से जो विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है उसका एक विशेष नाम देना आवश्यक हो जाता है। इसलिए इस वृत्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी रस को व्यंग्यार्थ मात्र मानने में कठिनाई होगी। रस अनुभूति है अनुभूति का विषय नहीं। भाव तो विभाव के चित्त में ही उठते हैं। दर्शक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है जिससे वह अपनी ही अनुभूतियों का आनन्द लेने में समर्थ होता है। सभी आलंकारिक आचार्य मानते हैं कि रस न तो 'कार्य' होता है और न 'ज्ञाप्य'। वह पहले से उपस्थित भी नहीं रहता। जो वस्तु पहले से उपस्थित नहीं रहती वह व्यंजनावृत्ति का विषय भी नहीं हो सकती। रस सहृदय श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होता है पात्र के चित्त में नहीं। अतः व्यंजनावृत्ति केवल श्रोता या दर्शक के चित्त में सूक्ष्म विभाव अनुभाव और संचारी भाव को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ कहा जा रहा है उससे भिन्न जो नहीं कहा जा रहा है या नहीं कहा जा सकता है उस अर्थ की अभिव्यक्ति करा सकती है। भरत मुनि के सूत्र

का तात्पर्य यही हो सकता है कि सहृदयों के चित्त में वासना-रूप में स्थित किन्तु प्रसुप्त स्थायी भाव ही विभावादि से व्यंजित होकर रसरूप ग्रहण करते हैं। नाटक में व्यंजना के साधन केवल शब्द ही नहीं बल्कि अभिनेता की चेष्टाएँ भी हैं। इस प्रकार नाटक एक ओर तो कवि-निबद्ध शब्दों से रस की व्यंजना करता है दूसरी ओर अभिनेता के अभिनय द्वारा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यंजना यदि शब्द शक्ति और अभिनय-शक्ति मात्र है तो श्रोता के प्रस्तुत भावों को व्यंजित भर कर सकती है उस अनुभूति को नहीं व्यक्त कर सकती जो शब्द और अभिनय के बाहर है और श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यंजित किया जा सके। इस कठिनाई से बचने के लिए आलंकारिकों ने पुराने आचार्य भट्टनायक के सुझाए दो व्यापारों—भावकत्व और भोजकत्व—को किसी-न-किसी रूप में मान लिया है। मतलब यह है कि कवि के निबद्ध शब्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टादि में यह सामर्थ्य भी है कि श्रोता या दर्शक को पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य स्थापित करा दे। ऐसी स्थिति में उसके भीतर पात्रों का विशेष रूप न रहकर साधारणीकृत रूप (पुरुष स्त्री) रह जाता है फिर उसमें एक भोजकत्व-व्यापार का आविर्भाव होता है और वह साधारणीकृत विभावादि और उनकी भावनाओं के आस्वादन में समर्थ हो जाता है।

कवि या नाटककार का कौशल पात्रों के विशेषीकरण में प्रकट होता है। हम उस कवि को ही सफल कवि मानते हैं जो पात्रों का विशेष व्यक्तित्व निखार सकता है। परन्तु ये विशेषीकृत पात्र लौकिक होते हैं। सहृदय के चित्त में जो भाव जगते हैं वे उसकी अपनी अनुभूतियों से बनने के कारण लोकोत्तर या अलौकिक होते हैं। यह अपने

ही चित्त मे अपनी ही अनुभूतियो के ताने-बाने से माव-जगत् के दुष्यन्त और शकुन्तला का निर्माण करता है। इन्हीं के सूक्ष्म भावो के मिश्रण से हम रस का अनुभव करते हैं। इसलिये कवि द्वारा विशेषीकृत पात्र सामान्य मानव-अनुभूतियो से पुनर्निर्मित होकर साधारण कर दिए जाते हैं। सहृदय अपनी ही मानस भूमि के ईंट चूने से इस प्रासाद का निर्माण करता है। इसलिये जब अर्थ अलौकिक स्तर पर आता है तो उसमे सामान्य मानव अनुभूतियो से निर्मित होने के कारण लौकिक विशेषताओ का एक ऐसा रूप बनता है जिसे साधारणीकृत रूप कह सकते हैं।

भावकत्व व्यापार के द्वारा पात्रो की भावनाओ के साथ सहृदय की भावनाओ का तादात्म्य होता है, ऐसा ऊपर कहा गया है पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र पात्र के साथ तादात्म्य नही होता। कुछ रसों मे श्रोता का आलम्बन वही होता है जो आश्रय का। इस प्रकार आश्रय के साथ तादात्म्य सम्भव होता है पर कभी-कभी आश्रय ही श्रोता का आलम्बन हो जाता है। जहाँ आश्रय के साथ श्रोता या दर्शक का तादात्म्य हो जाता है वही रस पूर्णांग होता है। दूसरे प्रकार के रस मे अपूर्णता रहती है। पहली स्थिति केवल शृङ्गार और वीर इन दो रसो मे ही सम्भव है। ये ज्यादा भावात्मक होते हैं जबकि अन्य रस अधिकतर कल्पनात्मक होते हैं। यही कारण है कि पूर्वीय रूपकों मे केवल दो ही रस होते हैं—वीर और शृङ्गार।

## २५ भाव

'भाव' शब्द का प्रयोग भरत मुनि ने भावित या वासित करने वाले के अर्थ मे किया है। 'भाव कारण-साधन है'। इसका दूसरा अर्थ है भावित या वासित करना। लोक मे भी प्रसिद्ध है कि 'अहो' एक-दूसरे के रस या गन्ध से सब भावित हो गया'। विभाव के द्वारा आहृत जो अर्थ अनुभाव से और वाचिक सात्त्विक और आंगिक अभिनयो से प्रतीत होता है वह भाव कहा जाता है। वाचिक आंगिक और मुखरागादि

सात्त्विक अभिनय द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावन कराते हुए होने के कारण यह भाव कहा जाता है। नाना अभिनय सम्बन्ध वाले रसों को भावित कराने के कारण ये भाव कहे जाते हैं। (नाट्य-शास्त्र ७।१) इससे पता चलता है कि विभाव द्वारा आहृत अर्थ को अनुभावादि द्वारा प्रतीति योग्य करने के कारण कवि के अन्तर्गत भाव को अभिनयादि द्वारा भावना का विषय बनाने के कारण विविध अभिनयों से सम्बन्ध रखने वाले रसों को सुवासित या रंजित करने के कारण इनका नाम भाव है। तीन स्थितियाँ हुईं—(१) कवि के अन्तर्गत भाव (२) विभाव द्वारा आहृत अर्थ और (३) अभिनयों से दर्शक के चित्त में अनुभूत होने वाला रस। इन को प्रतीति-योग्य कराने का नाम भावना है (कवि के अन्तर्गत भाव को) दूसरे को भावना का विषय बनाने का नाम भाव का है (विभावाहृत अर्थ को) तीसरे को रंजित या वासित करने का नाम भाव का है (अनुभूति को)। इस प्रकार भाव कवि के चित्त में स्थित भावों को प्रतीति-योग्य बनाता है विभाव द्वारा आहृत अर्थ को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव को भावित वासित या रंजित करता है। ये केवल पात्र की मानसिक अवस्थाएँ नहीं हैं। कवि के भावों की प्रतीति के साधन अनुकार्य पात्र की भव स्थिति के साथ सहृदय के मनोभावों का सामञ्जस्य-स्थापन और उसके अन्तःकरण में प्रसुप्त स्थायी भाव को बहुविध रसों और वर्णों से रंजित-वासित करके अधिक उपभोग्य बनाने के साधन हैं। भरत मुनि ने 'भाव' शब्द का प्रयोग अभिनेता की दृष्टि से स्पष्ट किया है। उन्होंने परिभाषा देते समय अवश्य ही मानसिक आवेग-संवेगों के अर्थ में इसका प्रयोग किया है। इनमें आठ स्थायी हैं, आठ सात्त्विक हैं और ३३ व्यभिचारी हैं। वैसे तो सभी व्यभिचारी हैं पर कुछ अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होने के कारण स्थायी कहे गए हैं।

कई बार इन्हें मनोभाव-मात्र समझने का प्रयत्न किया जाता है। व्यभिचारी या संचारी कहे गए भावों में कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें मानसिक

है। प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य होता है। उसमे कवि को काल्पनिक कथावस्तु के निर्माण की छूट है पर यह कथा भी बहुत-कुछ जानी हुई रहती है। वह इतिहास से मर्थात् रामायण-महाभारत से नही भी जाती पर 'कथा-सरित्सागर' आदि लौकिक आख्यानो से ली गई होती है। इसमे नाटककार को यथार्थ लोक-जीवन को चित्रित करने की स्वतन्त्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है। नाटिका की कथा कल्पित होती अवश्य है पर बहुत-कुछ उसकी कथावस्तु मिश्रित ही होती है। कोई लडकी जिससे विवाह होने पर राजा का कल्याण होने वाला होता है किसी संयोग से अन्त पुर मे पहुँचाई जाती है। राजा की दृष्टि उस पर पडती है। अनुराग बढता है। रानी सशक होकर सावधान होती है, फिर अनुकूल होती है। प्राय बाद मे पता चलता है कि लडकी रानी की दूर-रिश्ते की कोई बहन है। यही नाटिकाओ की सामान्य कथावस्तु है। प्रधान उद्देश्य कथा की जटिल प्रक्रिया नही रसोद्रेक है। भारतीय जीवन मे कर्मफल की अवश्यभाविता स्वीकृत जीवन-दर्शन है। बुरा करने वाले को बुरा और भला करने वाले को भला फल मिलना आवश्यक है। इस आदर्श ने भारतीय नाटको को ग्रस लिया था। अच्छे-भले आदमी को नियति के क्रूर विधानो के आगे हतबुद्धि होकर परास्त होना पडता है। ऐसी परिस्थितियो के सम्मुखीन होना पडता है जो उसकी शक्ति से कही अधिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण उसे लाचार बना देती है। शुभ बुद्धि वाले मनुष्य को भी हारना पडता है। यह बात भारतीय नाटको म नही मिलती। जहाँ मिलती है वहाँ देवता भले की सहायता के लिये आ जाते हैं और सब-कुछ का अन्त शुभ परिणाम मे होता है। 'शाकुन्तल' मे अप्सरा सहायक होती है 'नागानन्द' म गौरी सहायतार्थ आ जाती है 'उत्तर-चरित' मे देवियाँ सहायक सिद्ध होती हैं। जो बातें पश्चिमी नाटको मे घोर नैराश्य और क्रूर परिहास का विषय बन सकती थी वे दैवी शक्तियो की सहायता से सुलझ जाती हैं।

## ९ नाट्य-शास्त्र और यावनी परम्परा

१९वीं शताब्दी में कई यूरोपियन पण्डितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय नाट्यों के विकास में भारत के साथ ग्रीस के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक Indian Litera १८७८ में तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि बैक्ट्रिया, पंजाब और गुजरात में ग्रीक शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों के अभिनय होते थे। उनसे भारतीय नाटक और नाट्यीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा लेख प्राप्त हुआ जिससे 'रामायण-महाभारत' आदि के अभिनय की परम्परा पूर्व रूप से सिद्ध हो गई तो वेबर ने अपने मत में थोड़ा सुधार कर लिया। वे इतना कहकर सन्तुष्ट हो गए कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ ग्रीक-प्रभाव जरूर पड़ा होगा।

पिशेल नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा जोरदार खण्डन किया जिसका प्रत्याख्यान सन् १८८२ में विंडिश नामक जर्मन पण्डित ने किया। विंडिश यह तो मानते हैं कि भारतवर्ष में स्वतन्त्र भारतीय नाटक के विकास के तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। परन्तु 'महाभाष्य' में उल्लिखित 'रामायण-महाभारत' की लीलाओं से परवर्ती काल के भारतीय-सिद्धान्त-मर्यादित नाटकों को भिन्न समझते हैं। उनका कहना है कि परवर्ती काल में नाटकों की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया जो पौराणिक काल में थे वे गृहस्थ के दैनन्दिन जीवन से लिये गए। नाटकों की प्रधान काव्य-वस्तु नागरी-जन बन गया। कथावस्तु का रूपान्तर विकास हुआ जिसमें अंकों और दृश्यों में उसका विभाजन किया गया। पात्रों के ढांचे में विकास हुआ। वार्तालाप के विकास में गायन, महाकाव्यात्मक तत्त्व पीछे रह गए। गद्य के साथ-साथ पद्य का मिश्रण हुआ और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों में अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब यों ही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व रहा होगा। विंडिश का यही

वास्तविक आनन्द का हेतु है। शास्त्रकारों ने भयानक बीभत्स हास आदि को भी रस की मर्यादा दी है, पर वास्तव में ये भावकोटि तक पहुँचकर रह जाते हैं। एक और रस जिसे भरत मुनि ने नाट्य-रस की मर्यादा नहीं दी है भक्ति स्थायी भाव वाला रस है जिसमें आश्रय के साथ तादात्म्य की सम्भावना है। किसी-किसी आचार्य ने रसों की संख्या परिमित करने को केवल मुनि के प्रति आदर-प्रदर्शन के लिये माना है। वे रसों और भावों की संख्या अधिक मानने के पक्ष में हैं। यदि हास जुगुप्सा क्रोध आदि स्थायी भाव हैं तो इन्हीं के समान अन्य मनोभाव भी स्थायी हो सकते हैं ऐसा नाट्यदर्पणकार का मत है। उन्होंने लिखा है कि 'विशेष रूप से रंजनात्मक होने के कारण और पुरुषार्थों के लिये अधिक उपयोगी होने के कारण शृंगारादि नौ रस (शान्त के सहित) ही पुराने सदाचार्यों के द्वारा उपदिष्ट हैं। किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं जैसे लुब्धता या गार्ध्य स्थायीभाव वाला लौल्य रस आर्द्रता स्थायी भाववाला वात्सल्य रस आसक्ति स्थायी भाव वाला व्यसन रस अरति या बेचैनी स्थायीभाव वाला दुःख रस सन्तोष स्थायीभाव वाला सुखरस इत्यादि। परन्तु कुछ आचार्य पूर्वोक्त नौ रसों में ही इनका अन्तर्भाव कर लेते हैं।" ('नाट्यदर्पण' ३ १११)।

भारतीय नाट्य-परम्परा बहुत पुरानी है। कई बार इसके साथ यावनी नाट्य-परम्परा की तुलना करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इसका अमुक अंश मिलता-जुलता होने से वहीं (यवन-परम्परा) से लिया गया है। परन्तु यह बात उचित नहीं है। इसका स्वतन्त्र विकास हुआ है और कर्मफल की अवश्यम्भावी प्राप्ति के अद्वितीय भारतीय तत्त्व-दर्शन के अनुकूल हुआ है। आधुनिक दृष्टि से इसमें कमियाँ मालूम पड़ सकती हैं, पर आधुनिक दृष्टि सम्पूर्ण रूप से भिन्न जीवन-दर्शन का परिणाम है।

## ९ नाट्य-शास्त्र और यवनी परम्परा

१९वीं शताब्दी में कई यूरोपियन पण्डितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय नाट्यों के विकास में भारत के साथ ग्रीस के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक Indian Literature में तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि बैक्ट्रिया पंजाब और गुजरात में ग्रीक शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों के अभिनय होते थे। उनसे भारतीय नाटक और नाटकीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा लेख प्राप्त हुआ जिससे 'रामायण-महाभारत' आदि के अभिनय की परम्परा पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई, तो वेबर ने अपने मत में थोड़ा सुधार कर लिया। वे इतना कहकर सन्तुष्ट हो गए कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ ग्रीक-प्रभाव जरूर पड़ा होगा।

पिशेल नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा जोरदार खंडन किया जिसका प्रत्याख्यान सन् १ २ में विंडिश नामक जर्मन पण्डित ने किया। विंडिश यह तो मानते हैं कि भारतवर्ष में स्वतन्त्र भारतीय नाटक के विकास के तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। परन्तु 'महाभाष्य में उल्लिखित 'रामायण-महाभारत' की लीलाओं से परवर्ती काल के शास्त्रीय-सिद्धान्त-मर्यादित नाटकों को भिन्न समझते हैं। उनका कहना है कि परवर्ती काल के नाटकों की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया जो पौराणिक पात्र थे वे गृहस्थ के दैनन्दिन जीवन के ढाँचे में ढाले गए नाटकों की प्रधान काव्य-वस्तु सामग्री प्रेम बन गया। कथावस्तु का कलात्मक विकास हुआ जिसमें अंकों और दृश्यों में उसका विभाजन किया गया पात्रों के ढाँचे में विकास हुआ वार्तालाप के विकास के सामने महाकाव्यात्मक तत्त्व पीछे रह गए, पद्यों के साथ साथ गद्य का मिश्रण हुआ और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों में अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब यों ही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व नया आया होगा। विंडिश का यही

में उपयुक्त नया रूप दे सकता है क्योंकि संस्कृत-नाटककार अपने नाटक में उदात्त चरित्रों तथा दर्शकों के मनस्तल पर उदात्त भावों का प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया करता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए। (संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार नाटक रूपक विशेष जाति का अभिधेय स्पष्ट है। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है।)

इस दृष्टियों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल वस्तु में अथवा कथावस्तु चरित्र और रस की योजना करता था। वस्तुतः रस ही संस्कृत के सभी काव्य-नाटकों का प्राण है। रस तक ले जाने के कारण ही नायक (ले जाने वाला) नायिका (ले जाने वाली) अभिनय (ले जाने का पूर्ण साधन) आदि शब्दों की रचना हुई है। वह कथा की उन घटनाओं को जो उसके कथानक के लिये आवश्यक होती थीं अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थीं परिवर्तन अथवा पुनर्निर्मित करता था। यहीं वह अपने स्वयं के चरित्रों की सृष्टि कर लेता था। कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण जो पश्चिमी नाटकों के सर्वस्व होते हैं भारतीय नाट्य-कला में रस के साधक होते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र-चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक-निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

'यवनिका' शब्द ने भी अनेक प्रकार की कल्पनाओं को उत्तेजना दी है परन्तु विल्सन और लेवी ने इस शब्द से उत्पन्न भ्रान्त धारणाओं का निराकरण कर दिया है। वस्तुतः यवनिका या 'जवनिका' संस्कृत के 'जव निका' शब्द का प्राकृत रूप है जिसका अर्थ होता है, सम्मुख की जाने वाली पटी (तु० अपनीयत प्रकाश) या परदा। यदि यह शब्द किसी प्रकार यवन शब्द से सम्बद्ध मान भी लिया जाए तो भी इसका अर्थ यवन विदेशी से आयी हुई वस्तु ही होगा। भारतीयों का प्रथम परिचय [illegible] I 10 ) मास में हुआ था उसी से संस्कृत का 'यवन

और पालि का 'योन' शब्द बना है। बाद में इस शब्द का अर्थ विस्तार हुआ और हैलेनिक पर्शियन साम्राज्य के सभी देशों के निवासियों के लिए इसका प्रयोग हुआ है मिस्र (Egypt) ईरान (Persia) सीरिया बाह्लीक (Wahlic) आदि सभी देशों के निवासी यवन कहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विशेषण से स्मरण की जाती थी। लेवी ने ईरान के बने परदो को यवनिका कहा है। वस्तुतः जैसा कीथ ने कहा है ग्रीक नाटको मे परदे होते ही नही थे। स्वयं विंडिश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते हैं कि ग्रीक रंगमंच के पीछे जो चित्रित दृश्यावली होती थी उसे ही भारतीय रंगमंच मे परदे से सूचित किया जाता होगा इसलिए उसको 'यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपियन पण्डितों ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है, फिर भी 'यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यञ्जना-कारी है कि इससे उत्पन्न भ्रान्त धारणा इस देश में बनी हुई है और आए-दिन अच्छे-अच्छे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को सम्मान भाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ राघवन् ने ग्रीक और संस्कृत रंगमंचो की तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि 'भारतीय रंगमंच पर नाटक-रूपो की विविधता पहले से ही थी जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'ट्रेजडी' यूनानी नाटकों का सर्वोत्कृष्ट रूप था और संस्कृत रंगमंच पर यूनानी ट्रेजडी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नहीं हुआ। वस्तुतः इसके सिद्धान्त रंगमंच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत रंगमंच मे यूनानी रंगमंच के समान कोई गायक-वृन्द नहीं होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य संकलन त्रय के सिद्धान्त से देश-काल के संकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निषिद्धवत् होकर छोड़ दिए गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विकास की था। यूनानी रंगमंच का भारतीय रंगमंच के विविध रूपों से—

नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को ग्रीक-साहित्य की देन मानना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई यूरोपियन पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रह कर विषय-वस्तु और चरित्र चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक रोमन नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में जो 'टाइप' की समानता है वह सिद्ध करती है कि प्रारम्भ में वे अनुकरणमूलक रहे होंगे और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया होगा। पुराने टाइपों का यह बाना उनके मत से रोमन कामेडियों से उनका प्रभावित होने का ही लक्षण है क्योंकि यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया पर पुराना गया नहीं। यह बात कितनी निराधार है यह भी कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है

"The similarity of types is not at all convincing, the borrowing of the idea of using different dialect from the mime is really absurd and the large number of actors is equally natural in either case."

अर्थात् टाइपों की समानता बिलकुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग-सम्बन्ध में माइम से उधार लेने वाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों देशों के नाटकों में समान रूप से सम्भव है।

श्री कीथ ने जोर देकर कहा है कि ग्रीक-रोमन कामेडियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिमित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण कथावस्तु में जो विकास हो जाता है वह उनमें एकदम नहीं मिलता।

ऊपर संक्षेप में आधुनिक विद्वानों की कुछ ऊहापोहों की चर्चा की गई है। इस चर्चा का उद्देश्य केवल पाठकों को नये विचारों से परिचित करा देना था। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य के विधान में बाहरी प्रभाव की बातें बिलकुल अटकल

पर आधारित है और नाट्य-शास्त्र के विकास में तो किसी विदेशी परम्परा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। नाट्य शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी—हजरत ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को ग्रीक-साहित्य की देन कहना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई पुरातत्त्वविद पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रह-कर विषय-वस्तु और चरित्र चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक रोमन नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों के जो 'टाइप' की प्रधानता है वह सिद्ध करती है कि आरम्भ में वे अनु-करणमूलक रहे होंगे और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया होगा। पुराने टाइपों का रह जाना उनके मत से रोमन कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही लक्षण है, क्योंकि यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया पर पुराना गया नहीं। यह बात कितनी निराधार है यह भी कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है

"The similarity of types is not at all convincing, the borrowing of the idea of using different dialects from the mime is really absurd and the large number of actors is equally natural in either case."

अर्थात् टाइपों की समानता बिलकुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग-सम्बन्ध में माइम से उधार लेने वाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों तरह के नाटकों में समान रूप से सम्भव है।

श्री कीथ ने जोर देकर कहा है कि ग्रीक रोमन कामदियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिचित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण कथावस्तु में जो विकास हो जाता है वह उनमें एकदम नहीं मिलता।

ऊपर संक्षेप में आधुनिक विद्वानों की कुछ ऊहापोहों की चर्चा की गई है। इस चर्चा का यह रूप केवल पाठकों को नये विचारों से परि-चित करा देना था। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों के विकास में बाहरी प्रभाव की बातें विशुद्ध कल्पना

साम्य दिखाया है और इनमें तथा अन्य संस्कृत-नाटकों में जो अभिज्ञान या सहिदानी का अभिप्राय आया है उसे ग्रीक प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीथ ने कहा है अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयों को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिये ग्रीस जाना पड़ा कुछ तुक की बात नहीं है। यह और बात है कि जिन कथाओं और काव्यों में इस प्रकार के अभिप्रायों का प्रयोग है, उनकी तिथि सर्वत्र सन्देहास्पद बताई जाती है। ब्लूम फ़ील्ड आदि विद्वानों ने भारतीय कथानक-रूढ़ियों का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके प्रयत्नों से इस रूढ़ि की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो गई है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु, नाम आदि को लेकर विंडिश ने अपने सिद्धान्त स्थिर किए थे पर भास के 'चारुदत्त' नामक नाटक के मिलने से जो 'मृच्छकटिक' का मूल रूप है अब उनका भी वजन कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' में कुछ नयापन है अवश्य और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। राजनीतिक उलटफेरों से गणिका वसन्तसेना का रानी की मर्यादा पा लेना नयी-सी बात है पर उसका पहली रानी के साथ-साथ द्वितीय पत्नी के रूप में रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बातें कही गई हैं वे निराधार और कष्ट कल्पित हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि यूनानी-जैसी प्रतिभाशाली जाति के सम्पर्क में आने के बाद भारतीयों-जैसी अद्भुत कल्पनाशील जाति के विचारों और कल्पना-शक्ति में कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा पर जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्तों का प्रश्न है उसकी अपनी ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश में विद्यमान थी। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यूनानी साहित्य और विचार धारा भारतीय सम्पर्क में आकर कुछ लेने में हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों जातियों में कुछ ऐसा आदान-प्रदान हुआ अवश्य होगा पर उ

जिनका भरत ने कुछ भिन्नता से वर्णन किया है—कोई साम्य नहीं है। भरत के—जिनका ग्रन्थ अरस्तू के 'पोयटिक्स' तथा 'रिटारिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है—पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष, काल, स्थान तथा विवेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय-से हैं। परदे के लिये प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द, रंगमंच पर आने वाले राजकीय अनुचरों में यवन स्त्रियों की उपस्थिति आदि तथ्यों में भी यवन-सम्पर्क के कुछ प्रमाण खोजे गए हैं। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास परदे के लिए 'पटी' 'तिरस्करणी' 'प्रतिसिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि शब्द देशीय तथा युक्तियुक्त न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन सबों की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट पक्ष वे हैं जिनका यूनानी नाटकों में अभाव है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय माध्यम। सिलवाँ लेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में शकों के प्रभाव में विकसित हुए हैं। उनका आधारभूत प्रमाण नितान्त सारशून्य है।[1] कीथ के अनुसार संस्कृत-नाटकों का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। विषयवस्तु शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

'यवनिका' की ही भाँति संस्कृत-नाटकों में राजा की अंगरक्षिका के रूप में यवनी बालाओं की उपस्थिति को भी ग्रीक रंगमंच के प्रभाव का निदर्शन बताया जाता है पर जैसा कि स्वयं कीथ ने कहा है कि ग्रीक नाटकों में अंगरक्षिकाओं का कोई अस्तित्व नहीं है, यह अधिक-से-अधिक ग्रीक रमणियों के प्रति भारतीय राजाओं का झुकाव ही सिद्ध करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मेगस्थनीज आदि के लेखों से इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

विविध में नायिकाओं के साथ कई नागरिकों का आकर्षणजनक

---

१ अध्याय १ पृ ११।

मान्य दिखाया है और इनमें तथा अन्य संस्कृत-नाटकों में जो अभिज्ञान या सहिदानी का अभिप्राय आया है उसे ग्रीक प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीथ ने कहा है, अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयों को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिये ग्रीस जाना पड़ा कुछ तुक की बात नहीं है। यह और बात है कि जिन कथाओं और काव्यों में इस प्रकार के अभिप्रायों का प्रयोग है उनकी तिथि सर्वत्र सन्देहास्पद बताई जाती है। ब्लूम फ़ील्ड आदि विद्वानों ने भारतीय कथानक-रूढ़ियों का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। इनके प्रयत्नों से इस रूढ़ि की प्राचीनता निस्संदिग्ध रूप से प्रमाणित हो गई है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु नाम आदि को लेकर विंडिश ने अपने सिद्धान्त स्थिर किए थे पर भास के 'चारुदत्त' नामक नाटक के मिलने से जो 'मृच्छकटिक' का मूल रूप है, अब उसका भी वजन कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' में कुछ नयापन है अवश्य और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। राजनीतिक उलटफेर से गणिका वसन्तसेना का रानी की मर्यादा पा लेना नयी-सी बात है पर उसका पहली रानी के साथ-साथ द्वितीय पत्नी के रूप में रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बातें कही गई हैं वे निराधार और कष्ट कल्पित हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि ग्रीक-जैसी प्रतिभाशाली जाति के सम्पर्क में आने के बाद भारतीयों-जैसी अद्भुत कल्पनाशील जाति के विचार और कल्पना-शक्ति में कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा पर जहाँ तक नाट्य सिद्धान्तों का प्रश्न है उसकी बहुत ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश में विद्यमान थी। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यवनी साहित्य और विचार धारा भारतीय सम्पर्क में आकर कुछ लेने में हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों जातियों में कुछ ऐसा आदान प्रदान हुआ अवश्य होगा पर बड़े

नाट्य शास्त्र के सिद्धान्तों को ग्रीक-साहित्य की देन कहना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई यूरोपियन पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रह-कर विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक रोमन नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में जो 'टाइप' की प्रधानता है वह सिद्ध करती है कि प्रारम्भ में ये अनुकरणमूलक रहे होंगे और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया होगा। पुराने टाइपों का रह जाना उनके मत से रोमन कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही सबूत है क्योंकि वह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया पर पुराना गया नहीं। यह बात कितनी निराधार है यह भी कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है

'Th similarity of types is not t all convincing, the borrowing f the idea of us ng different dialects from the mime is really bsurd and the large number of actors is equally natural in either case.

अर्थात् टाइपों की समानता बिलकुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग-सम्बन्ध में माइम से उधार लेने वाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों देशों के नाटकों में समान रूप से सम्भव है।

श्री कीथ ने जोर देकर कहा है कि ग्रीक-रोमन कामदियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिचित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण कथावस्तु में जो विकास हो जाता है वह उनमें एकदम नहीं मिलता।

ऊपर संक्षेप में आधुनिक विद्वानों की कुछ ऊहापोहों की चर्चा की गई है। इस चर्चा का उद्देश्य केवल पाठकों को नये विचारों से परिचित करा देना था। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों के विकास में बाहरी प्रभाव की बातें विशुद्ध कल्पना

र प्रामाणिक हैं और नाट्य-शास्त्र के विकास में तो किसी विदेशी
परम्परा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। नाट्य
शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी—हजरत ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष
पुरानी है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः ।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥२॥

सर्वविद् भगवान् विष्णु और आचार्य भरत को नमस्कार है जि भक्त दस रूपों के ध्यान और अनुकरण आदि के द्वारा प्रसन्न करते हैं ॥२॥

विष्णु के भक्त भगवान् के मत्स्य कूर्म वराह आदि दस रू की प्रतिमा बना-बनाकर तथा पूजन आदि के द्वारा प्रसन्न होते हैं आचार्य भरत की शिष्य परम्परा उनके द्वारा प्रचारित दस रूपों रूपकों के अभिनय के द्वारा प्रसन्न होती है। उन भगवान् विष्णु आचार्य भरत को नमस्कार है।

इस ग्रन्थ को पढ़कर और सुनने से लोग किस प्रयोजन की प्राप्ति लिये प्रवृत्त होवें इस बात को ग्रन्थकार बताते हैं—

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः ।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३॥

सरस्वती कृपा करके ग्रन्थ के प्रतिपादन करने के योग्य कोई कवि के मन में कदाचित् कभी ला देती है, जिसका प्रतिपादन वह ग्रन्थ में करता है और उसका अध्ययन करके दूसरे लोग उस वि पाण्डित्य प्राप्त करते हैं ॥३॥

अब ग्रन्थकार इस ग्रन्थ की रचना में अपने प्रवृत्त होने का बताते हैं—

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः ।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥

ब्रह्मा ने वेदों से सारभाग को लेकर जिस नाट्यवेद की

भामह आदि प्राचीन आचार्यों का ऐसा मत है कि अच्छे काव्यों के सेवन से धर्म अर्थ काम मोक्ष और कलाओं में प्रवीणता आती है और कीर्ति तथा प्रीति की प्राप्ति होती है (भामह १.२)। इस प्रकार वे लोग त्रिवर्ग की प्राप्ति काव्य का फल है ऐसा मानते हैं। इस बात का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार बताते हैं कि स्व-संवेद्य परम आनन्दरूप रस के आस्वाद की प्राप्ति ही दशरूपकों का फल है इतिहास आदि की तरह त्रिवर्ग की प्राप्ति-मात्र ही नहीं। ऊपर जो "स्वाद से अनभिज्ञ लोगों को नमस्कार है" ऐसा कहा गया है, वह उपहास के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पहले ग्रन्थकार कह आए हैं कि नाट्य के लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। अब वे सर्वप्रथम नाट्य किसे कहते हैं इसी बात को बताते हैं—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं

"अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं।"

काव्य में वर्णित जो धीरोदात्त आदि नायकों की (और अन्य पात्रों की) अवस्थाएं हैं उनका अनुकरण के द्वारा चार प्रकार के अभिनयों से ऐसा अनुकरण जो राम-दुष्यन्त आदि पात्रों को ज्यों-का-त्यों उपस्थित करा सके और दर्शकों में उनके राम-दुष्यन्त आदि होने की प्रतीति उत्पन्न कर सके (तादात्म्यापत्ति) उसे नाट्य कहते हैं।

रूपं दृश्यतयोच्यते।

दृश्य अर्थात् दिखाई देने योग्य होने के कारण उसे ही रूप भी कहते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार नील आदि को दिखाई देने के कारण रूप कहते हैं।

रूपकं तत्समारोपात्

(नट में राम आदि की अवस्था आदि का) आरोप कर लिया जाता है। अतः नाट्य को रूप या रूपक भी कहते हैं।

एक ही वस्तु के नाट्य रूप रूपक ये तीन नाम वैसे ही प्रवृत्ति

के कारण व्यवहार में आते हैं जैसे इन्द्र, पुरन्दर, शक्र, ये तीनों नाम एक ही देवता की प्रवृत्ति के निमित्त से व्यवहृत होते हैं।

दशधैव रसाश्रयम् ॥७॥

(रस को आश्रय कर रहकर वर्तमान रहने वाले) ये रूपक दस प्रकार के ही होते हैं।

"दस ही प्रकार के" कहने का तात्पर्य यह है कि बिना मिले-जुले शुद्ध रूप में ये ही दस प्रकार के रूपक रस को आश्रय करके रहने वाले हैं अन्य नहीं। नाटिका भी रस को आश्रय करके रहती है पर इसमें मिश्रण (सङ्कीर्णता) होने के कारण वह शुद्ध रूप से रस का आश्रय नहीं होती। इस बात को आगे बताएँगे।

नाट्य के दस भेद ये हैं—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।

व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ ८ ॥

१ नाटक २ प्रकरण ३ भाण ४ प्रहसन ५ डिम ६ व्यायोग ७ समवकार ८ वीथी ९ अङ्क १० ईहामृग (ये रूपक के दस भेद हैं) ॥८॥

कुछ लोगों का कहना है कि नृत्य के सात भेदों—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य—में से भाण को जैसे नाट्य के दस भेदों में गिनाया गया है वैसे ही अन्य छहों को भी रूपक के ही भेदों में गिनना उचित है। इस प्रकार दस ही रूपक के भेद होते हैं यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उपर्युक्त कारण के द्वारा और भी रूपक के भेदों की उपलब्धि होती है।

इसका उत्तर ग्रन्थकार निम्नलिखित ढंग से देते हैं —

अन्यद्भावाश्रयं नृत्य—

(नृत्य के भेदों को रूपक के अन्तर्गत नहीं रख सकते क्योंकि) भावों के आश्रय करके रहने वाला नृत्य रस को आश्रय करके रहने वाले नाट्य

आधिकारिक कथावस्तु

> अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
> तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

फल का स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता अधिकार कहलाता है और उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारी की फल-प्राप्ति-पर्यन्त चलने वाली कथा को आधिकारिक कथावस्तु कहते हैं ॥१२॥

प्रासंगिक कथावस्तु

> प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

दूसरे (आधिकारिक कथा के नायक आदि) के प्रयोजन की सिद्धि के उद्देश्य की प्रधानता के रहते हुए जहाँ अपनी भी प्रसंगवश स्वार्थसिद्धि हो जाए ऐसी कथा को प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं।

> सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

प्रासंगिक कथा भी पताका और प्रकरी भेद से दो प्रकार की होती है। जो कथा दूर तक चलती रहे ऐसी कथा को पताका कहते हैं।

इसका पताका नामकरण इसलिए किया गया है कि जैसे पताका नायक का असाधारण चिह्न होते हुए उपकारक रहती है वैसे ही यह भी उसी के समान नायक से सम्बन्धित कथा की उपकारिका होती है। इसका उदाहरण रामायण के भीतर आने वाला सुग्रीव आदि का वृत्तान्त है। और जो प्रासंगिक कथा कुछ थोड़ी ही दूर तक चले उसको प्रकरी कहते हैं जैसे रामायण के भीतर आने वाला श्रवणकुमार का वृत्तान्त ॥१३॥

पताका स्थानक

> प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
> पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

जिस कथा का प्रकरण चल रहा हो उसमें आने वाली बात की सूचना जिससे मिलती है उसे पताकास्थानक कहते हैं। यह पताका के समान ही होती है अतः इसे पताका स्थानक कहते हैं। (यह 'तुल्य इति वृत्त और तुल्य विशेषण'—भेद से दो प्रकार को होती है। अर्थात् समासोक्ति और अन्योक्ति (अप्रस्तुत प्रशंसा) भेद से दो प्रकार की होती है)[1] ॥१४॥

यहाँ रत्नावली नाटिका से अन्योक्ति भेद का उदाहरण दिया जा रहा है—

अस्ताचलगामी सूर्य अपनी प्रेयसी कमलिनी को सम्बोधित कर रहा है—'हे कमलमयने मैं जा रहा हूँ क्योंकि यह मेरे जाने का समय है तुम (आज) मेरे ही द्वारा सुलाई भी जा रही हो और कल (प्रातः काल) मेरे ही द्वारा उठाई भी जाओगी अतः शोक मत करो। इस प्रकार कमलिनी को सान्त्वना देता हुआ सूर्य अस्ताचल में अपनी किरणों को निविष्ट कर रहा है।

समासोक्ति वाले पताका स्थानक का उदाहरण भी उसी नाटिका (रत्नावली) से दिया जा रहा है—

(नायक राजा उदयन और उसकी रानी वासवदत्ता में होड़ लगी

१ तुल्य विशेषण समासोक्ति में ही रहता है अतः तुल्य विशेषण से समासोक्ति अलंकार समझना चाहिए। अप्रस्तुत प्रशंसा को ही कुछ लोग अन्योक्ति नाम से पुकारते हैं।

ग्रन्थकार के अनुसार पताकास्थानक का पहला उदाहरण अन्योक्ति का और दूसरा समासोक्ति का है। पर अधिकांश लोग दोनों जगह समासोक्ति ही मानते हैं। ग्रन्थकार के पक्ष के समर्थन में यह कहा जाता है कि जिसको प्रकरण का पता नहीं है उसे उदाहृत पद्य से पहले प्रस्तुत नायिका-पक्ष का ज्ञान होगा उसके बाद अप्रस्तुत वर्णनियों के पता का, अतः प्रस्तुत से अप्रस्तुत का ज्ञान हो जाने पर अप्रस्तुत प्रशंसा (अन्योक्ति) मानने में कोई बाधा नहीं होगी।

है कि कौन अपनी उद्यानलता को पहले पुष्पित कर देता है। मित्र की सहायता से राजा की लता पहले फूल उठती है। उसी को देखकर राजा कह रहा है। वह ऐसे विशेषणों का व्यवहार कर रहा है जो लता के लिए तो प्रयुक्त होते ही हैं किसी अन्य प्रेमातुरा नायिका के अर्थ भी देते हैं। श्लोक का चमत्कार इन विशेषणों के कारण ही है।)

आज इस उद्यानकलिका [(१) अन्त के पास में चटकती कलियों वाली (२) अन्य स्त्री के पास में अत्यन्त उत्कण्ठायुक्त] विपाण्डुर तथा [(१) पीली कान्तिवाली (२)पीली पड़ गई] आरब्ध जृम्भा [(१) विकसित होने वाली (२)जम्हाई लेती हुई] निरन्तर वेग के कारण अपने-आप को विस्तार बनाती हुई [(१) फैलती हुई, (२) दीर्घ निश्वास के कारण व्याकुल] समदना [(१) मदन नामक वृक्ष के पास वाली (२) कामातुर] उद्यानलता को दूसरी स्त्री के समान निहार निहारकर मैं रानी का मुख कोप से अवश्य ही लाल कर दूँगा।

इस प्रकार,

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ॥ १५ ॥

वस्तु के आधिकारिक पताका और प्रकरी के तीन भेद होते हैं। फिर ये तीनों भी प्रख्यात उत्पाद्य और मिश्र इन भेदों के कारण तीन-तीन प्रकार के होते हैं—(१) इतिहास आदि में आने वाली कथा-वस्तु को प्रख्यात कहते हैं। (२) कवि की प्रतिभा द्वारा निर्मित कथा-वस्तु को उत्पाद्य कहते हैं ॥१५॥ तथा (३) प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों के मिश्रण को मिश्र कहते हैं। अर्थात् जिसमें का कुछ अंश इतिहास आदि के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त हो तथा कुछ भाग कवि की प्रतिभा से उद्भूत हो उसे मिश्र कहते हैं।

इसी प्रकार 'वेणी संहार' नाटक में द्रौपदी के केश-संयमन के लिए भीम के क्रोध से बढ़ा हुआ युधिष्ठिर का उत्साह बीज-रूप से वर्णित है। यह महाकार्य और अवान्तर कार्य के भेद से अनेक प्रकार का होता है।

**अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥**

**बिन्दु**—अवान्तर कथा की समाप्ति के अवसर पर प्रधान कथा के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न होने देने वाली वस्तु को 'बिन्दु' कहते हैं ॥१७॥

जल में तैल बिन्दु जिस प्रकार फैल जाता है उसी प्रकार यह भी फैलता है। ऐसा होने के कारण ही इसे 'बिन्दु' कहते हैं। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में कामदेव की पूजा अवान्तर कथा है, मूलकथा से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस अवान्तर प्रयोजन-रूप कामदेव की पूजा की समाप्ति के अवसर पर कथार्थ के विच्छेद की स्थिति आ जाती है पर वहाँ दूसरे कार्य का कारण बन जाने से ऐसा नहीं हो पाता—'महाराज उदयन चन्द्रमा के समान शोभित हो रहे हैं।' यह सुनकर सागरिका कह उठती है कि 'क्या ये वे ही महाराज उदयन हैं जिनके लिए पिताजी ने मुझे भेजा था?' इत्यादि और इस प्रकार इस अवान्तर प्रसंग का मूल कथा से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

ऊपर बीज बिन्दु आदि अर्थप्रकृतियों को बिना क्रम के प्रसंगानुसार कह आए हैं। अब उन्हें सजाकर क्रम को ध्यान में रखकर बताते हैं—

**बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।**
**अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥ १८ ॥**

(प्रयोजन की सिद्धि के कारण) पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। वे हैं—१ बीज, २ बिन्दु, ३ पताका ४ प्रकरी और ५ कार्य ॥१८॥

अब पाँच अवस्थाओं को बताते हैं—

**अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।**
**आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥ १९ ॥**

फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति द्वारा जो कार्य प्रारम्भ किया गया रहता है उसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—१ आरम्भ २ यत्न ३ प्राप्त्याशा ४ नियताप्ति और ५ फलागम ॥१६॥

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

आरम्भ—प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्पन्न उत्सुकता को आरम्भ कहते हैं ।

अर्थात् 'इस कार्य को मैं कर रहा हूँ' इस प्रकार के अध्यवसाय को 'आरम्भ' कहते हैं । जैसे 'रत्नावली' के प्रथम अंक में यौगन्धरायण कहता है कि स्वामी की वृद्धि के लिए जो कार्य मैंने प्रारम्भ किया और भाग्य ने भी जिसमें सहारा दिया इत्यादि । यहाँ से वत्सराज उदयन के कार्य का आरम्भ यौगन्धरायण के मुख से दिखाया गया है क्योंकि उदयन 'सचिवायत्त-सिद्धि' राजा है अर्थात् ऐसा राजा है जिसकी सिद्धि सचिव के भरोसे होती है ।

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥ २ ॥

प्रयत्न—उस अप्राप्त फल की शीघ्र प्राप्ति के लिए उपाय आदि रूप चेष्टा-विशेष के करने को प्रयत्न कहते हैं ॥२ ॥

जैसे 'रत्नावली' में आलेख्य (चित्राङ्कन) आदि द्वारा वत्सराज उदयन से मिलने के उपाय का वर्णन ।

सागरिका मन-ही-मन सोचती है— तो फिर महाराज के दर्शन प्राप्त करने के लिए अब कोई उपाय नहीं दीख पड़ता । अतः जैसे-तैसे उनके चित्र को आँककर ही अपनी मनःकामना पूर्ण करूँ । इस प्रकार से 'रत्नावली' में प्रयत्न दिखाया गया है ।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।

प्राप्त्याशा—फल की प्राप्ति में ऐसे व्यापार का होना जिसमें विघ्न

---

१ सागरिका (रत्नावली) महाराज उदयन से चित्राङ्कन द्वारा जैसे-तैसे मिलने के लिए जो कार्य करती है वह प्रयत्न के भीतर आता है ।

इसको मानने से हाम्यरस में भी मुखसन्धि का बोध नहीं हो पाता है।

इस सन्धि के बीज और आरम्भ के योग से निम्नलिखित १२ अंग होते हैं।

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

१ उपक्षेप २ परिकर, ३ परिन्यास ४ विलोभन ५ युक्ति ६ प्राप्ति ७ समाधान ८ विधान ९ परिभावन, १० उद्भेद ११ भेद और १२ करण ॥ २५, २६ ॥

इन सबका लक्षण आसानी से समझ में आ जाए एतदर्थ इन्हें उदाहरण के साथ दिया जा रहा है—

बीजन्यास उपक्षेपः

१ उपक्षेप—बीज के न्यास (रचना) को उपक्षेप कहते हैं।

जैसे नेपथ्य में यौगन्धरायण का यह वचन "द्वीपादन्यस्मादपि—अन्य द्वीपों से दिशाओं की ओर छोर से (पृ ८ दे ) आदि। इस श्लोक से यौगन्धरायण द्वारा वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति के लिए अनुकूल दैव और अपने व्यापार का कथन बीजरूप में रखा गया है।

तद्बाहुल्यं परिक्रिया।

२ परिकर—बीज की वृद्धि को परिकर कहते हैं।

जैसे 'द्वीपादन्यस्मादपि' इसके आगे यौगन्धरायण का यह वचन—यदि ऐसी बात न होती तो फिर सभा सिद्ध के वचन पर विश्वास करके उनके लिए माँगी गई सिंहलेश्वर की कन्या का समुद्र में नौका के नष्ट हो जाने पर डूबने समय बहता हुआ काठ का टुकड़ा आलम्बन के लिए कैसे प्राप्त हो जाता ? यहाँ से आरम्भ करके 'स्वामी की उन्नति पक्षपातिनी है'। यहाँ तक बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है अतः यह परिकर का उदाहरण है।

तन्निष्पत्तिः परिन्यासो

३ परिन्यास—बीज की निष्पत्ति अर्थात् उसका निश्चित रूप मे प्रकट होना परिन्यास कहलाता है।

जैसे वही रत्नावली नाटिका मे—'प्रारम्भेऽस्मिन्' आदि श्लोक से।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ।। २७ ।।

४ विलोभन—गुण कथन को विलोभन कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका म वैतालिका के द्वारा चन्द्रसदृश वत्सराज के गुणगान मे सागरिका के समागम का कारण अनुराग-रूप बीज की अनुकूलता का वर्णन। यथा—

'सूर्य अपनी समस्त किरणो के साथ अस्ताचलगामी हो गए। नेत्र धारियो को आनन्द प्रदान करने वाले महाराज उदयन चन्द्रमा के समान उदित हो रहे हैं। इस सन्ध्याकाल म सभामण्डप म आसीन नृपगण कमलो की द्युति को हरण करने वाले उनके चरणसेवन के लिए उत्सुक बने हुए हैं।

और जैसे वेणीसंहार का यह श्लोक—'भीमसेन (प्रसन्न होकर) द्रौपदी से कहते हैं कि देवि यह क्या? 'मन्थन दण्ड (मन्दराचल) से मथित समुद्र-जल से पूर्ण कन्दरा-सहित मन्दराचल की तरह गम्भीर घोषकारी कोलाहल होने पर प्रलयकाल से गरजते हुए मेघो की घटाओ के परस्पर टकरा जाने से भीषण शब्दकारी प्रलय रात्रि के अग्रदूत के समान कौरवो के अधिपति (दुर्योधन) के नाशसूचक उत्पात से उत्थित झंझावात की भाँति तथा हम लोगो के सिंहनाद के सदृश इस नगाड़े को किसने ताडित किया है।' यहाँ से आरम्भ करके यथा दुन्दुभि — यश की दुन्दुभि बार-बार बज रही है। यहाँ तक का पद्य द्रौपदी के लुभाने के प्रयत्न के कारण विलोभन है ।। ७ ।।

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः

युक्ति—प्रयोजन के सम्यक निर्णय को युक्ति कहते हैं।

में भी—द्रौपदी कहती है कि 'नाथ आप रणभूमि से आकर फिर मुझे आश्वासित करें।

इस पर भीम उत्तर देता है—

'पान्चाली आज हम बनावटी आश्वासन से क्या ? निरंतर अप-मान और उससे उत्पन्न दुःख और लज्जा से म्लान मुख वाले भीम को तब तक नहीं देखोगी जब तक वह कौरवों को नष्ट न कर दे। इस प्रकार संग्राम के सुख-दुःख के कारण होने के कारण 'विधान' है।

परिभावोऽद्भुतावेश

परिभावना—आश्चर्यजनक बात को देखकर कुतूहलयुक्त बातों के कथन को परिभावना या परिभव कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका (मदनम के नाथ मदन पूजा में उदयन को देख)—क्या प्रत्यक्ष ही कामदेव पूजा ग्रहण कर रहे हैं ? यहाँ पर वत्सराज उदयन को कामदेव समझकर प्रत्यक्ष कामदेव का पूजा ग्रहण करना जो लोकोत्तर कार्य है उससे उत्पन्न अद्भुत आनन्द के आवेशवश जो कथन है वह परिभावना है। अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में 'द्रौपदी—नाथ इस समय भीषण निर्घोष के कारण प्रलय प्रलयकालिक मेघ की गम्भीरता के समान आवाज करने वाली यह रणभेरी (नगाड़ा) प्रतिक्षण क्यों बजाई जा रही है ? यहाँ पर लोकोत्तर समर-दुन्दुभि की ध्वनि में द्रौपदी का विस्मययुक्त रस का आवेश होने के कारण परिभावना है।

उद्भेदो गूढभेदनम् ।

उद्भेद—छिपी हुई बात को खोल देने को उद्भेद कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका' में नाम मैं रत्न में समझे गए वत्सराज का परितापास्त्र इत्यादि से प्रारम्भ कर उसी में उन्मत्त गाने द्वारा बीज के अनुरूप उसे (वत्सराज को) प्रकट कर देने से उद्भेद है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी भीम कहता है आर्य यह महाराज

क्या करना चाहते हैं ? इसी समय नेपथ्य से आवाज आती है कि "जिस क्रोध की ज्वाला को सत्यव्रतपरायण ने अपने व्रत-भंग की आशंका से बड़े परिश्रम के साथ मन्द कर रखा था जिसको शान्ति के पुजारी ने कुल के कल्याण की कामना से भूल जाने का निश्चय कर लिया था वह द्यूतरूपी अरणी से प्रज्वलित युधिष्ठिर की राज की ज्योति द्रौपदी के केश और वस्त्रों के खींचे जाने से कौरववन में भभक उठी है। इस पर भीम उल्लासपूर्वक कहता है "भभक उठ, भभक उठ, महाराज के क्रोध की ज्वाला। बिना किसी अवरोध के सभी भाँति बढ़ो।

करणं प्रकृतारम्भो

करण—प्रस्तुत कार्य के प्रारम्भ कर देने को करण कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका—"भगवान् कामदेव तुम्हें प्रणाम है। तुम्हारा दर्शन कल्याणमय हो। जो देखने योग्य था उसे मैंने देख लिया। अब मेरा मनोरथ सफल हो गया। अतएव जब तक और कोई मुझे इस रूप में न देख ले उसके पहले ही यहाँ से चली जाऊँ। इस प्रकार पहले से निर्विघ्न दर्शन की जो योजना थी उसका आरम्भ यहाँ से होता है अतः यह 'करण' है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी भीम कहते हैं 'पाञ्चालि हम लोग कौरवों को नष्ट करने जा रहे हैं। सहदेव—हम लोग गुरुजनों की आज्ञा से अपना पुरुषार्थ दिखाने जा रहे हैं।"

इस प्रकार से यहाँ पहले मन के भीतर आये हुए संग्राम प्रयाण की तैयारी का आरम्भ हो जाने से 'करण' है।

भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २९ ॥

भेद—उत्साहयुक्त वचनों के कथन को भेद कहते हैं ॥२९॥

जैसे 'वेणीसंहार' में 'नाथ मेरे अपमान से अभिभूत होकर बिना अपने शरीर का ध्यान रखे पराक्रम न प्रदर्शित कीजिएगा क्योंकि ऐसा

विदित हो जाने से किंचित् लक्ष्य होता हुआ फिर वासवदत्ता द्वारा चित्र को देख इस रहस्य को जान लेने से और उसके द्वारा प्रेम-व्यापार में बाधा पहुँचने की सम्भावना के होने से अलक्ष्य अवस्था को प्राप्त होता हुआ प्रतिमुख सन्धि का उदाहरण बन जाता है।

'वेणीसंहार' के द्वितीय अंक में भी भीष्मादि के वध से विजय-प्राप्ति के लिए क्रोध-रूप जो बीज है उसका किंचित् लक्ष्य होना और कर्ण आदि शूरवीरों के वध न होने से उसकी किंचित् अलक्ष्यता प्रकट होती है। "पाण्डुपुत्र अपने पराक्रम से भाई, बन्धु पुत्र मित्र तथा नौकर चाकरों समेत दुर्योधन का वध करेंगे। इत्यादि से लेकर दुर्योधन की अपनी पत्नी के साथ किए गए वार्तालाप-प्रसंग—दुर्योधन भानुमति से कहता है—युद्ध में दुःशासन का हृदय विदीर्ण करके रुधिरपान करने के विषय में और मुग्ध दुर्योधन के जंघों को गदा से तोड़ देने के विषय में की गई परम प्रतापशाली पाण्डवों की प्रतिज्ञा जैसी थी वैसी ही जयद्रथ के विषय में पाण्डवों द्वारा की गई प्रतिज्ञा को भी समझना चाहिए।

अर्थात् जैसे पाण्डवों द्वारा की गई पहले की प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी वैसे ही उनकी जयद्रथ-वध की भी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो पाएगी।

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥ ३० ॥

यह सन्धि बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और प्रयत्न नामक अवस्था के मिलन से पैदा होती है। इसके १३ अंग होते हैं ॥३० ॥

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

१ विलास २ परिसर्प ३ विधूत ४ शम ५ नर्म ६ नर्मद्युति ७ प्रगमन ८ निरोध ९ पर्युपासन १० वज्र ११ पुष्प १२ उपन्यास और १३ वर्णसंहार ॥३१॥

नीचे उदाहरण के साथ इनके लक्षण दिए जाते हैं—

रत्यर्थेहा विलासः स्यात्

विलास—सुरत की कामना को विलास कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में 'सागरिका—हृदय प्रसन्न होओ प्रसन्न होओ जिसका पाना सहज नहीं है उसको प्राप्त करने के लिए इतना आग्रह क्यों करता है? यहाँ से आरम्भ कर 'यद्यपि मन से मेरा हाथ काँपता है तो भी उनका जैसे-तैसे चित्रांकन कर मनोवांछा परिणाम करें' इसके अलावा उनके दर्शन के लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है। यहाँ पर वत्सराज के समागम के लिए चित्रांकन में जो सागरिका द्वारा चेष्टा आदि प्रयत्न होते हैं वे अनुराग-रूपी बीज के अनुकूल होने के कारण विलास के उदाहरण हैं।

दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्प—पहले विद्यमान पश्चात् नष्ट हुई या दृष्ट नष्ट वस्तु की खोज करने को परिसर्प कहते हैं ॥३२॥

परिसर्पो

जैसे 'वेणीसंहार' में—'कंचुकी धन्य पतिव्रतपरायणे धन्य आप स्त्री होकर भी धन्य हैं पर महाराज नहीं क्योंकि इनके शत्रु पाण्डव सिर पर खड़े हैं चाहे वे प्रबल हों या निर्बल पर हैं तो वे शत्रु ही इस पर भी उनकी सहायता वासुदेव कर रहे हैं। ऐसी हालत में भी महाराज रनिवास के सुख को ही भोग रहे हैं। (सोचकर) और भी एक अनुचित कार्य है जिसे महाराज कर रहे हैं क्योंकि परशुराम जैसा तपस्वी यद्यपि जिसका कुठार कभी कुण्ठित नहीं हो पाया था उन पर विजय प्राप्त करने वाले भीष्मपितामह को पाण्डवों ने बाणवर्षा कर धराशायी बना दिया। इतना होते हुए भी महाराज के मन में तनिक भी क्षोभ पैदा नहीं हो रहा है। साथ ही अमहाय बालक अभिमन्यु जिसके धनुष को धनुषा ने काट डाला था और अनेक योद्धाओं पर

विजय प्राप्त करने-करने यान हो गया था । इस प्रकार अभिमन्यु वध से महाराज प्रसन्न हैं ।

इत्यादि में द्वारा भीष्म के वध से दृष्ट (देखा गया) बि अभिमन्यु के वध से नष्ट बलशाली पाण्डवों के जिनके सहायक भगवान् कृष्ण हैं समाप्त लक्षण बिन्दु का बीज के प्रयत्न के अनुगम से कञ्चुकी के मुख से बीज का जो अनुसरण किया जाता है परिसर्प उदाहरण है । 'रत्नावली नाटिका' में भी—सागरिका के वचन से दृ और चित्र-दर्शन से सागरिका के अनुराग बीज के दृष्ट नष्ट होने महाराज उदयन के द्वारा—"कहाँ है वह ? कहाँ है वह ?" इत्यादि वचन से वत्सराज के द्वारा अनुसरण किए जाने से परिसर्प यहाँ होता

## विधूतं स्यादरतिः

विधूत—सुखमय वस्तुओं में अरति अर्थात् तिरस्कार को उत्पन्न होने को कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में सागरिका के के वचन—'सखि और सताप बढ़ता ही जाता है ।

(सुसंगता तालाब से कमल के पत्ते और मृणालों का लाकर रखा के अंगों को ढँक देती है) सागरिका—(उनको फेंकती "सखि हटाओ इन पद्मपत्रों और मृणालों को । इनसे क्या व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो ? मैं तुझे बताती हूँ सुनो—

मेरा मन दुर्लभ जन में आसक्त हो गया है पर शरीर में लज्जा ने घर कर लिया है मन मेरी दृष्टि में तो ऐसे विषम प्रेम निबाहने के लिए मरण ही एकमात्र सहारा है ।"

यहाँ पर सागरिका के प्रेमरूपी बीज से अन्वित होने में शीतो के लिए रखी गई सामग्रिया के विधूत करने से विधूनन या विधूत

तच्छम शम. ।

शम—अरति के दूर हो जाने को शम कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में राजा— हे मित्र इस रमणी ने (अपने हाथों) मेरा चित्र आँका है इससे मेरे मन में अपने स्वरूप के प्रति अधिक आदर हुआ है। अब भला अपने को क्या नहीं देखूँगा ?" यहाँ से प्रारम्भ करके "सागरिका—(अपने-आप) मन धीरज धर चंचल मत हो तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था। इस प्रकार यहाँ अरति के शान्त हो जाने से शम है।

परिहासवचो नर्म

नर्म—परिहासयुक्त वचन को नर्म कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सुसंगता—"सखि जिसके लिए आई हो वह सामने खड़ा है।"

सागरिका (कुछ कोप के साथ)—मैं किसके लिए आई हूँ ?

सुसंगता (हँसकर)— अरी अपने पर भी शंका करने वाली चित्र फलक के लिए ही तो आई हो सो उसे ले लो।"

यहाँ पर सुसंगता महाराज को लक्ष्य कर सारी बातें परिहास के रूप में सागरिका से कह रही है। चित्रफलक के ग्रहण का तात्पर्य भी महाराज से ही है। इस प्रकार बीज से युक्त यह परिहास-वचन नर्म का उदाहरण है। जैसे 'वेणीसंहार' में भी— (दुर्योधन चेटी के हाथ से अर्घपात्र आदि लेकर रानी भानुमती को देता है इसके बाद) भानुमती—(अर्घ्य देकर) नाथ पुष्पों को दो ताकि और भी देवों का पूजन सम्पन्न कर दूँ। इसके बाद भानुमती हाथ फैलाती है दुर्योधन उसके हाथों में पुष्पों को देता है। दुर्योधन के हाथों के स्पर्श से भानुमति के हाथों में कँपकँपी आ जाती है जिससे हाथ से पुष्प गिर पड़ते हैं।

भानुमती विघ्न की शान्ति के लिए पूजन कर रही थी पर दुर्योधन द्वारा उसमें विघ्न डाल देने से पूजन सम्यक्तया सम्पन्न न हो सका। इस प्रकार की बात का होना भीम आदि शत्रु-पक्ष के लिए अच्छा ही हुआ। इसके द्वारा नायक पक्ष की विजय की सम्भावना का होना परिहास के साथ ही हुआ। अतः इसे (परिहास का) प्रतिमुख सन्धि का

अत मानना युक्तिसंगत ही है।

धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

नर्मद्युति—परिहास से उत्पन्न आनन्द अथवा तिरस्कार के छिपाने को नर्मद्युति कहते हैं ॥३३॥

जैसे 'रत्नावली' में "सुसंगता—सखि तू बड़ी निष्ठुर है, जो महाराज से इतना आदर पाने पर भी क्रोध को नहीं छोड़ती। सागरिका (भौंह चढ़ाकर)—अब भी तू चुप नहीं रहती सुसंगता !" उपर्युक्त बातों द्वारा प्रेमरूपी बीज के प्रकट होने पर परिहास से उत्पन्न बात को छिपाने के कारण यहाँ नर्मद्युति है।

उत्तरा वाक्प्रगमनं

प्रगमन—बीज के अनुकूल उत्तर-प्रत्युत्तरयुक्त वचन को प्रगमन कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में चित्र मिलने पर राजा और विदूषक की यह बातचीत— 'हे मित्र तुम बड़े भाग्यशाली हो ! राजा—मित्र यह क्या ? विदूषक—यह वही है जिसकी अभी चर्चा चली थी चित्रपट में आप ही अंकित हैं नहीं तो भला कामदेव के बहाने और किसका चित्र खींचा जा सकता है। इत्यादि से आरम्भ कर राजा के इस कथन तक—
भाई मृणाल हार प्यारी के स्तनतट के सम्पर्क से च्युत होकर क्यों सूख रहे हो ? अरे भाई, तुम निरे बुद्ध मालूम हो रहे हो भला बताओ तो सही उसके स्तनों के बीच में अति सूक्ष्म तन्तु के रखने भर का तो स्थान ही नहीं है फिर तेरे-ऐसे मृणालखण्ड के लिए वहाँ स्थान ही कहाँ है ?

इस प्रकार राजा और विदूषक तथा सुसंगता और सागरिका की आपसी बातों से उत्तरोत्तर अनुराग-बीज प्रकटित हो रहा है। अतः यह प्रगमन का उदाहरण हुआ।

हितरोधो निरोधनम्।

निरोध—हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट पड़ जाने को निरोध कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में "राजा—धिङ्मूर्ख सयोग से किसी प्रकार वह (जिसके अन्दर मेरे विषय में अनुराग प्रकट हो रहा था) मिली भी तो तूने मेरे हाथ में आयी हुई उस 'रत्नावली' नामक कान्ता को रत्नावली की माला की तरह च्युत करा दिया। अभी मैं उस कण्ठ में लगाना ही चाहता था कि तूने उसमें व्यवधान लाकर मुझे अपना अभीप्सित पूरा करने में बाधा पहुँचा दी। यहाँ पर वत्सराज के मन में सागरिका से समागम की जो इच्छा रही उसमें वासवदत्ता आ रही है" ऐसे वचन से रोध (व्यवधान) पड़ गया। अतः यह निरोध हुआ।

पर्युपासिरनुनय

पर्युपासन—क्रुद्ध व्यक्ति को क्षमा करने के लिए प्रार्थना करने को पर्युपासन कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में महाराज वासवदत्ता को मनाते समय कह रहे हैं— राजा—देवि यदि मैं तुम्हें प्रसन्न होने को कहूँ तो यह बात अव्यक्त क्रोध वाली तेरे लिए युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। यदि मैं ऐसा कहूँ कि आज से फिर ऐसा काम नहीं करूँगा तो भी ठीक नहीं जाता क्योंकि इससे तो उलटे यही बात प्रमाणित होने लगेगी कि मैंने सचमुच इस काम को किया है। यदि मैं यह कहूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है तो तुम इसे मिथ्या ही मानोगी। तो हे प्रिये इस समय क्या कहना चाहिए यह मेरी समझ में नहीं आता। अतः मेरे ऊपर कृपा करके क्षमा प्रदान करो। इसके द्वारा चित्रफलक में एक साथ सागरिका और महाराज को देख कुपित वासवदत्ता के लिए प्रसन्न करने के लिए किए गए प्रयत्न सागरिका और वत्सराज के अनुराग के प्रकट होने से पर्युपासन हुआ।

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

पुष्प—विशेषतायुक्त वचन के कथन को पुष्प कहते हैं ॥३४॥

भेद मानना युक्तिसंगत ही है ।

धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

नर्मद्युति—परिहास से उत्पन्न आनन्द अथवा तिरस्कार के छिपाने को नर्मद्युति कहते हैं ॥३३॥

जैसे 'रत्नावली' में सुसंगता—सखि तू बड़ी निष्ठुर है जो महाराज से इतना आदर पाने पर भी क्रोध को नहीं छोड़ती। सागरिका (भौंह चढ़ाकर)—अब भी तू चुप नहीं रहती सुसंगता।" उपर्युक्त वाक्य द्वारा प्रेमरूपी बीज के प्रकट होने पर परिहास से उत्पन्न बात को छिपाने के कारण यहाँ नर्मद्युति है।

उत्तरा वाक्प्रगमनम्

प्रगमन—बीज के अनुकूल उत्तर प्रत्युत्तरयुक्त वचन को प्रगमन कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में चित्र मिलने पर राजा और विदूषक की यह बातचीत— 'हे मित्र तुम बड़े भाग्यशाली हो। राजा—मित्र यह क्या ? विदूषक—वह यही है जिसकी अभी चर्चा चली थी चित्रपट में आप ही अंकित हैं नहीं तो भला कामदेव के बहाने और किसका चित्र खींचा जा सकता है।' इत्यादि से आरम्भ कर राजा के इस वचन तक—
'भाई मृणाल हार प्यारी के कटस्तन के सम्पर्क से च्युत होकर क्यों सूख गए हो ? अरे भाई तुम निरे बुद्धू मालूम हो रहे हो भला बताओ तो सही उसके कुचस्तनों के बीच में यदि सूक्ष्म तन्तु के रखने-भर का तो स्थान ही नहीं है फिर तुम-ऐसे मृणालखण्ड के लिए वहाँ स्थान ही कहाँ है ?

इस प्रकार राजा और विदूषक तथा सुसंगता और सागरिका की आपसी बातों में उत्तरोत्तर अनुराग-बीज प्रकटित हो रहा है। अतः यह प्रगमन का उदाहरण हुआ।

हितरोधो निरोधनम् ।

निरोध—हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट पड़ जाने को निरोध कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में 'राजा—विद्‌मूल संयोग से किसी प्रकार वह (जिसके अन्दर मेरे विषय में अनुराग प्रकट हो रहा था) मिली भी तो तूने मेरे हाथ में आयी हुई उस 'रत्नावली' नामक कान्ता को रत्नावली' की माला की तरह च्युत करा दिया। अभी मैं उसे कण्ठ में लगाना ही चाहता था कि तूने उसमें व्यवधान लाकर मुझे अपना अभीप्सित पूरा करने में बाधा पहुँचा दी। यहाँ पर वत्सराज के मन में सागरिका से समागम की जो इच्छा रही उसमें वासवदत्ता आ रही है' ऐसे कथन से रोध (व्यवधान) पड़ गया। अतः यह निरोध हुआ।

पर्युपास्तिरनुनय

पर्युपासन—क्रुद्ध व्यक्ति को खुश करने के लिए प्रार्थना करने को पर्युपासन कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका' में महाराज वासवदत्ता को मनाते समय कह रहे हैं—"राजा—देवि यदि मैं तुम्हें प्रसन्न होने को कहूँ तो यह बात अव्यक्त क्रोध वाली तेरे लिए युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। यदि मैं ऐसा कहूँ कि आज से फिर ऐसा काम नहीं करूँगा तो भी ठीक नहीं होगा क्योंकि इससे तो उलटे यही बात प्रमाणित होने लगेगी कि मैंने सचमुच इस काम को किया है। यदि मैं यह कहूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है तो तुम इसे मिथ्या ही मानोगी। तो हे प्रिय इस समय क्या कहना चाहिए यह मेरी समझ में नहीं आता। अतः मेरे ऊपर कृपा करके क्षमा प्रदान करो। इसके द्वारा चित्रफलक में एक साथ सागरिका और महाराज का देख कुपित वासवदत्ता के लिए प्रसन्न करने के लिए किए गए प्रयत्न सागरिका और वत्सराज के अनुराग के प्रकट होने से पर्युपासन हुआ।

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

पुष्प—विशेषतायुक्त वचन के कथन को पुष्प कहते हैं ॥३४॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में राजा का सागरिका के हाथों के स्पर्श से पुलकित हो विदूषक से निम्नलिखित वचन का कथन—विदूषक राजा से कहता है—"मित्र तुमने अपूर्व लक्ष्मी तो प्राप्त कर ली। विदूषक के वचन को सुनकर महाराज कहते हैं—

'यह सागरिका सचमुच साक्षात् लक्ष्मी है और इसका हाथ निश्चय ही पारिजात के नूतन पल्लव हैं नहीं तो भला पसीने के बहाने अमृत द्रवस से कहाँ से टपकते।

इस प्रकार नायक और नायिका के एक-दूसरे के देखने आदि से युक्त (विशेषता लिए-हुए) अनुराग के प्रकट होने में यह पुष्प है।

उपन्यासस्तु सोपायं

उपन्यास—युक्तियुक्त वाक्य के कथन को उपन्यास कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सुसंगता का राजा के प्रति यह वचन—'महाराज आप मुझ पर प्रसन्न हैं यही क्या कम है? आप किसी प्रकार की शंका न करें मैंने ही यह खेल किया है आभूषण मुझे नहीं चाहिए। मेरी सखी मुझ पर इसलिए अप्रसन्न है कि मैंने इसका चित्र इस चित्रपट पर क्यों खींचा। सो महाराज चलकर जरा इसे मना दीजिए। इससे बढ़कर मेरे लिए और कौनसी बख्शीश (पुरस्कार) हो सकता है।

यहाँ पर सुसंगता ने सागरिका मेरे द्वारा तथा आप उसके द्वारा चित्रित किये गए हैं। इस बात को अर्थान्तरेण राजा से कहकर उसको प्रसन्न करने के लिए जो निवेदन किया इन सब बातों में अनुराग बीज लक्षित हो रहा है अतः यहाँ उपन्यास है।

वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्।

वज्र—सम्मुख निष्ठुर वाक्य के कथन को वज्र कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में वासवदत्ता विदूषक की ओर निर्देश करके कहती है—आर्यपुत्र यह मूनि को आपके पास मौजूद है यह

भी क्या चमत्कार में ही पाण्डित्य की द्योतिका है ? फिर कहती है—
'आर्यपुत्र इस चित्र को देख मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हो गई है।'

यहाँ पर वासवदत्ता द्वारा सागरिका और वत्सराज का अनुराग प्रकट किया जाता है जिसका वासवदत्ता द्वारा प्रत्यक्ष कथन वज्र के सदृश दुःखदायी होने के कारण 'वज्र' है।

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

वर्णसंहार—चारों वर्णों के सम्मिलन को वर्णसंहार कहते हैं ॥३५॥

जैसे 'महावीरचरित' के तृतीय अंक में—'यह ऋषियों की सभा है, ये वीर युधाजित हैं, ये मन्त्रियों के साथ राजा रोमपाद हैं। और यह सदा यज्ञ करने वाले अनेक कुल के स्वामी होते हुए भी सदा ब्रह्म की आराधना रखने वाले ब्रह्मवादी महाराज जनक हैं।

इस श्लोक में ऋषि क्षत्रिय अमात्य आदि का एकत्र होना वर्णित है। इसमें राम की विजय की सूचना मिलती है। साथ ही परशुराम की उच्छृङ्खलता का पता जनक द्वारा अघोर की याञ्चा में कथन से होता है। अतः यह वर्णसंहार है।

ये उपयुक्त १३ प्रतिमुख सन्धि के अंग हैं। इसमें मुखसन्धि में पड़ा हुआ अल्पबीज और महाबीज को प्रयत्न (अवस्था) के अनुरूप रहना चाहिए। इस तरह से भी परिमित प्रधान वस्तु उपन्यास और मुख्य इनको इच्छा में स्थान देना आवश्यक है पर का प्रभाव यथा सम्भव होना चाहिए।

## गर्भ सन्धि

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः ॥ ३६ ॥

इस तृतीय संधि गर्भसन्धि का लक्षण सिद्धान्तानुसार पताका नामक अर्थप्रकृति और प्राप्त्याशा नामक अवस्था के संयोग से होता एवं सिद्ध

है पर (प्रकरण का) इसके विषय में यह कहना है कि और सन्धियों के लिए तो पूर्वनियम ठीक लागू होता है पर इसमें कुछ विशेषता रहती है। वह यह है कि इसमें प्राप्त्याशा नामक अवस्था का रहना तो आवश्यक है पर पताका नामक अर्थप्रकृति का रहना उतना आवश्यक नहीं है। अर्थात् पताका नामक अर्थप्रकृति रह भी सकती है नहीं भी रह सकती है, पर प्राप्त्याशा नामक अवस्था का रहना तो नितान्त आवश्यक है ॥३६॥

प्रतिमुख सन्धि में किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार प्राप्ति भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इसमें कभी तो विघ्नों के कारण ऐसा लगता है कि कार्य सफल नहीं हो पाएगा। फिर विघ्न के हट जाने से कार्य की सफलता दिखाई देती है फिर विघ्न के आ जाने से कार्यसिद्धि में सन्देह पैदा हो जाता है फिर प्राप्ति की आशा पुष्ट हो जाती है। इस प्रकार की व्यापार-शृंखला चलती रहती है। इस प्रकार यह गर्भसन्धि फल की प्राप्ति में अनिश्चितता से भरी रहती है।

'रत्नावली नाटिका' के तृतीय अंक में यह बात देखने को मिलती है। वत्सराज को सागरिका के साथ समागम करने में वासवदत्ता-रूपी विघ्न की सदा आशंका बनी रहती है किन्तु विदूषक के इस कथन से कि सागरिका महारानी वासवदत्ता के वेष में ही आपसे मिलने आने वाली है इससे सागरिका से मिलन की आशा बँध जाती है। इसके बाद इस प्रेम व्यापार में वासवदत्ता के द्वारा आघात पहुँचता है जिससे एक तरह से मिलने की आशारूप प्रेम-व्यापार नष्ट हो जाता है। इसके बाद फिर आशा बँध जाती है फिर विच्छेद हो जाता है फिर विघ्नों के दूर करने में अपाय होता पड़ता है और अन्त में कहना पड़ जाता है कि सागरिका की प्राप्ति के लिए देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा दूसरा कोई उपाय दिखाई नहीं देता।

गर्भसन्धि के अंग होते हैं—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥ ३७ ॥

यहाँ पर विदूषक के द्वारा सागरिका के समागमरूप तत्त्व की बात सत्य और निश्चय से कही गई है अतः यह मार्ग का उदाहरण हुआ।

रूपं वितर्कवद्वाक्यम्

रूप—वितर्कयुक्त बात के कथन को रूप कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में "राजा—कितनी आश्चर्य की बात है कि कामी जनों को अपनी स्त्री की अपेक्षा परस्त्री में अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। और यद्यपि (परस्त्री) नवोढ़ा प्रणय से प्राप्त अपनी दृष्टि को सोत्कम्प आदि के कारण नायक के मुख पर जमाकर रखती भी नहीं। प्रेम के आवेश में कण्ठालिंगन करते समय घनघोर स्तनालिंगन से भी वंचित ही रखती है। प्रयासपूर्वक ग्रहण किए जाने पर भी "मैं जा रही हूँ" "मैं जा रही हूँ" इस बात को बार-बार कहा करती है फिर भी संकेत-स्थान में बैठकर इस प्रकार की रमणी की प्रतीक्षा करने में कामी जनों को अपूर्व ही आनन्द की प्राप्ति होती है। "क्या कारण है कि वसन्तक अभी तक नहीं आया? कहीं इस बात का पता वासवदत्ता को तो नहीं लग गया।" इत्यादि के द्वारा सागरिका के समागम की प्राप्ति की आशा की अनुकूलता में वासवदत्ता द्वारा विघ्न पड़ जाने की बात का सोचना वितर्क है।

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः।

उदाहृति या उदाहरण—उत्कर्षयुक्त वचन के कथन को उदाहृति या उदाहरण कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में विदूषक का यह कथन—(हर्ष के साथ) महाराज को मेरे प्रिय वचन को सुनकर इतना अधिक आनन्द हुआ जितना कौशाम्बी राज्य के विजय के समय में भी नहीं हो पाया था।

रत्नावली की प्राप्ति की बात कौशाम्बी राज्य की प्राप्ति से भी

बढकर होगी इस प्रकार यहाँ उत्कर्ष का कथन हुआ है अत यह उदा हरण हुआ।

क्रम सचिस्यमानाप्तिर्

क्रम—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को क्रम कहते है।

*'रत्नावली नाटिका' में राजा उत्कण्ठा के साथ कहता है— 'प्रियतमा* के मिलने का समय अति सन्निकट होते हुए भी म वाम क्यो चित्त परम विक उत्कण्ठित हो रहा है।

अथवा—

तीव्र कामदेव का सताप इच्छित वस्तु के दूर रहने पर उतना कष्ट कर नही होता जितना सन्निकट रहने पर। गरमी का वह दिन जो वर्षा काल से दूर रहता है उतना कष्टप्रद नही होता जितना वर्षा के सन्नि-कट वाले दिन कष्टकर होते हैं।

विदूषक—(सुनकर) सागरिका देव महाराज उत्कण्ठित होकर तुम्हारे ही विषय म सोचते हुए धीरे-धीरे कुछ बोल रहे है, सो मैं आगे चलकर तेरे आने की सूचना उन्हे दे दूँ।

इस प्रकार यहाँ सागरिका के समागम की अभिलाषा वाले वत्स राज को भ्रान्त सागरिका (वासवदत्ता सागरिका रूप मे) की प्राप्ति क्रम है।

भावज्ञानमथापरे ॥ ३१ ॥

क्रम की परिभाषा दूसरे लोगों के मत से भाव के ज्ञान का होना है ॥३१॥

जैसे 'रत्नावली म राजा—"प्रिय सागरिका तेरा मुख चन्द्रमा के समान आह्लादजनक है नेत्र नीलकमल की शोभा धारण करते हैं करली के मध्यभाग (भीतरी हिस्से) के बराबर सुन्दर तेरे जघे हैं तेरे हाथ रक्तकमल की शोभा धारण करते है और भुजाएँ मृणाल की शोभा को धारण किये हुए हैं इस प्रकार से सम्पूर्ण अगो से आह्लाद

सदा का धारण करने वाली तू निर्भय होकर कामदेव के संताप से व्याकुल मेरे अंगों को वेग के साथ आलिंगन कर मेरे अंगों के संताप को दूर कर।"

यहीं से लेकर 'कि पदस्य रुचिं न हन्ति' तदप्यस्त्येव विन्यासे।

यहाँ तक की बातों से वासवदत्ता को वत्सराज उदयन का साथ प्राप्त हो जाता है अतः यह अन्य लोगों की दृष्टि से क्रम का उदाहरण हुआ।

संग्रहः सामदानोक्तिः

संग्रह—सामदानयुक्त कथन को संग्रह कहते हैं।

'रत्नावली नाटिका' में सागरिका के ले आने पर विदूषक को धन्यवाद के साथ पारितोषिक देना—"मित्र तुम्हें धन्यवाद है मैं पारितोषिक स्वरूप यह कटक तुम्हें देता हूँ। इस प्रकार साम दाम आदि के द्वारा विदूषक का सागरिका के साथ वत्सराज को मिला देना आदि बातों का संग्रह 'संग्रह' का उदाहरण है।

अनुमानो लिङ्गतोऽनुमा।

अनुमान—चिह्न-विशेष के द्वारा किसी बात का अनुमान करना अनुमान कहलाता है।

जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज का विदूषक से यह कहना—"मूर्ख यही था तुम्हारे ही द्वारा मुझे इस अनर्थ का सामना करना पड़ा।

प्रथम दिनों के प्रेम व्यापार के द्वारा जो प्रेम उत्कृष्टता प्राप्त कर गया था वह आज मेरे ऐसे निन्दित कार्य के द्वारा जैसा कि आज तक कभी भी नहीं किया था नष्ट कर डाला गया। अपमान के सहन करने की क्षमता न रखने वाली मेरी प्राणप्रिया वासवदत्ता निश्चय ही आज इस प्रकार के कारण अपने प्राणों को छोड़ देगी क्योंकि प्रकृष्ट प्रेम का त्रुटित हो जाना निश्चय ही असह्य होता है। राजा इस बात को सुनकर विदूषक कहता है— मित्र वासवदत्ता क्या करेगी यह तो मैं नहीं जानता पर मुझे तो सागरिका का ही जीवन दुष्कर प्रतीत हो

रहा है।

यहाँ पर राजा का सागरिका में अनुराग है इस बात को वासवदत्ता जान गई है, अतः इस घटना के प्रकट हो जाने के कारण वह अवश्य अपने प्राणों को छोड़ देगी इस बात का अनुमान किया जाता है, अतः यह अनुमान है।

अधिबलमभिसंधि

अधिबल—संयम होने को अधिबल कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में कांचनमाला वासवदत्ता से कहती है—महारानी यही चित्रशाला है अतः अब वसन्तक को बुलाती हूँ (चिटकी बजाती है) इस प्रकार सागरिका और सुसंगता के वेष धारण की हुई वासवदत्ता और कांचनमाला से राजा और विदूषक का संयम होता है अतः यह अधिबल हुआ।

संरब्ध तोटकं वचः ॥ ४० ॥

तोटक—क्रोधयुक्त वचन को तोटक कहते हैं ॥ ४० ॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में वासवदत्ता राजा से कहती है—(पास जाकर) 'आर्यपुत्र आपका यह कार्य आपके नाम और यश के अनुरूप ही है। (फिर बिगड़कर)

कांचनमाले इस दुष्ट ब्राह्मण को इस लता से बाँधकर ले चल तथा इस दुष्ट लड़की को भी आगे कर ले।

इस प्रकार के वासवदत्ता के कोपित वाक्यों से सागरिका के समागम में विघ्न पड़ जाने से अनियत प्राप्ति के कारण तोटक हुआ।

'वेणीसंहार' में भी अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है—'यदि मैं सेनापति बना दिया जाऊँ तो आपके सारे शत्रुओं को नष्ट कर डालूँगा। शत्रुओं के अभाव में बन्दियों के मंगलपाठ द्वारा बहुत परिश्रम से निद्रा भंग किए जाने पर आज आप निद्रा-सुख (आनन्द) प्राप्त करेंगे। यहाँ से लेकर कर्ण का अश्वत्थामा के प्रति यह कहना कि रे मूढ़ जब तक मेरे हाथों में धनुष है तब तक अन्य धनुर्धारियों की

क्या पाञ्चालतनया ? आदि यहाँ तक।

अपने पक्ष की सेना में फूट डालने वाला कर्ण और अश्वत्थामा का झगड़ा पाण्डवों की विजय प्राप्ति के अनुकूल होने के कारण तोटक है।

दूसरे ग्रन्थकारों के अनुसार तोटक का लक्षण भिन्न माना जाता है। अर्थात् क्षोभयुक्त वचन तोटक में होता है अतः इसमें विकारयुक्त वचन रहता है। जैसे रत्नावली नाटिका में राजा वासवदत्ता से कहता है—"प्रत्यक्ष अपराध के देख लेने पर भी आपसे निवेदन यह है कि 'देवि प्रसन्न होकर आलक्तक से रंगे हुए तेरे चरणों की लालिमा को अपने मस्तक से रगड़कर साफ कर देने में तो मैं समर्थ हूँ पर तुम्हारे मुखचन्द्र पर छायी हुई कोप की अरुणाई को दूर करने में तो मैं तब तक समर्थ नहीं हो सकता जब तक आपके कृपाकटाक्ष का विक्षेप मेरे ऊपर न हो।

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।
संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

तोटक—उद्विग्नपूर्णवचन को तोटक कहते हैं ।।४१।।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में 'राजा—प्रिय वासवदत्ते प्रसन्न हूजो प्रसन्न होओ।

वासवदत्ता (आँखों में आँसू भरकर)—आर्यपुत्र मुझे प्रिया कहके मत पुकारिए, क्योंकि यह विशेषण आपके द्वारा दूसरे नाम (सागरिका) के साथ जोड़ा जा चुका है। सागरिका इस शब्द (प्रिया शब्द) की भाजन बन चुकी है।

जैसे 'वेणीसंहार' में भी—'राजा—सुन्दरक अङ्गराज कर्ण कुशल तो है न? पुरुष—महाराज वे जीवित हैं इतना ही कुशल समझिए।

दुर्योधन—(आतुरता के साथ) सुन्दरक क्या अर्जुन ने उसके घोड़े और सारथि को तो नहीं मार डाला? और क्या उसने उसके रथ को भी तो नहीं भग्न कर डाला?

सुन्दरक—महाराज केवल रथ ही नहीं भग्न किया किन्तु साथ साथ उनके मनोरथ (पुत्र) को भी ।

दुर्योधन—कैसे ?" यहाँ पर उद्वेगयुक्त वचन के होने से द्रावक है ।

उद्वेगोऽरिकृता भीति

उद्वेग—शत्रु से उत्पन्न भय को उद्वेग कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'सागरिका (मन-मन सोचती है) मैं ऐसी पापिनी हूँ कि अपनी इच्छा से मर भी नहीं सकती । यहाँ पर वासवदत्ता से उत्पन्न सागरिका का भय उद्वेग का उदाहरण है ।

वेणीसंहार' में भी—'अरे, कौरव-नरेश के पुत्र रूपी विशाल वन को निर्मूल करने में भयंकर आँधी के समान यह दुष्ट भीमसेन समीप में ही विद्यमान है महाराज को अभी चेतना नहीं आई है । तो क्या मैं यथाशीघ्र रथ को दूर भगा ले चलूँ क्योंकि दुःशासन ही की तरह इन पर भी कदाचित् यह भीम अपनी भीषणता न कर बैठे । यहाँ पर शत्रु द्वारा भय होने के कारण उद्वेग है ।

शङ्कात्रासौ च सम्भ्रम ।

संभ्रम—शंका और त्रास के होने को सम्भ्रम कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में "विदूषक—यह कौन-सी रमणी है ? सम्भ्रम के साथ मित्र बचाओ बचाओ वासवदत्ता फाँसी लगा रही है।

यहाँ पर सागरिका को वासवदत्ता समझकर मरण की शंका से सम्भ्रम पैदा हुआ है । इसी प्रकार वेणीसंहार' में भी—"(नेपथ्य में कलकल शब्द होता है) मामा मामा बड़े दुःख की बात है । यह अर्जुन अपने भाई के प्रतिज्ञा भंग हो जाने के भय से सक्षोभ चारों की वर्षा करते हुए दुर्योधन और कर्ण की ओर दौड़ रहा है। हाय दुःख की बात है—भीम ने दुःशासन का रक्तपान कर लिया । यहाँ तक तो शंका है और प्रहार से उद्भ्रान्त मुख वाले अश्वत्थामा के प्रति यह वचन—

## अवमर्श सन्धि

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः ॥ ४३ ॥

क्रोध व्यसन विलोभन आदि द्वारा गर्भसन्धि में पड़ा हुआ बीज फल की तरफ अग्रसर होता हुआ जब अधिक विस्तृत रूप धारण कर लेता है उसको अवमर्श सन्धि कहते हैं ॥४३॥

अवमर्श का अर्थ होता है पर्यालोचन करना। यह व्यसन विलोभन आदि कारणों से होता है। 'ऐसा करने से यह होगा। इस प्रकार निश्चित फल की प्राप्ति होगी।' इस प्रकार का समझकर किया गया प्रयत्न इसमें पाया जाता है। 'रत्नावली' नाटिका के चौथे अंक में जहाँ अग्नि के कारण भगदड़ी मचती है वहाँ तक यह सन्धि है। इस अंक में वासवदत्ता की प्रसक्ति से विघ्नरहित रत्नावली की प्राप्ति में लग जाना कार्य-विमर्श दिखलाया गया है। 'वेणीसंहार' में भी दुर्योधन के रुधिर से लथपथ भीमसेन के आगमन-पर्यन्त इसी विमर्श-सन्धि का निदर्शन कराया गया है।

युधिष्ठिर—(सोचकर दीर्घ श्वास लेते हुए) भीष्मरूप समुद्र पार कर गए, द्रोणरूप आग भी बुझ गई, कर्णरूप महा विषधर सर्प भी नष्ट कर डाला गया, शल्य भी स्वर्ग के पथिक बने, अतः विजय-लाभ अति सन्निकट है। तो भी अति साहसी भीमसेन की प्रतिज्ञा ने हम लोगों के जीवन को संकट में डाल दिया है।

यहाँ पर "विजय-लाभ अति सन्निकट होते हुए भी युधिष्ठिर सोच रहे हैं कि भीष्म आदि के मारे जाने से विजय निश्चित रही पर भीम ने इस बीच प्रतिज्ञा कर हम लोगों के जीवन को खतरे में डाल दिया। इस प्रकार जो विचार करना है वह विमर्श सन्धि के भीतर आता है।

अकेला असहाय हूँ। अत हम पाँचो म से जिसके साथ युद्ध करने की इच्छा हो अवश्य पहल हाथ म अस्त्र ले उससे युद्ध करो।" इस बात को सुनकर दुर्योधन दोनो कुमारो भीम और अर्जुन को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ बोला—

'कर्ण और दु शासन के वध से यद्यपि तुम दोनो मेरे लिए समान हो तथापि शत्रु होते हुए भी तुम लोग साहसी हो अत तुम लोगों के साथ ही युद्ध करना मैं उचित समझता हूँ।

यह कहकर एक-दूसरे को क्रोधपूर्वक तिरस्कृत कटु वचनो मे साथ विकट युद्ध का प्रस्ताव करके इत्यादि।

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति रोष से भरे हुए वचन के होने से यह सफेट का उदाहरण हुआ। यह सफेट विन्दु रूपी बीज से अन्वित ही है।

विद्रवो वधबन्धादिर्

विद्रव—वध बन्धन आदि बात जिसमें पाई जाती हो उसे विद्रव कहते हैं।

जैसे 'छलित राम नाटक' म लव के बाँधे जाने पर कुशिगणा का उसे देख उसके प्रति दुर्व्यवहार प्रकट करना—

जिसके मुख ने सामवेद के पाठ करने मे अत्यन्त कष्ट उठाया था बाल्यकाल मे जो हम लागो के हाथ से मृगवत्स को लेकर क्रीडा किया करता था वह हम लोगो का हृदयस्वरूप लव आज बालों के समने से रथो के भर जाने म पागल होकर मूर्च्छित अवस्था मे सैनिको द्वारा पकडकर ले जाया जा रहा है। ऐसे ही 'रत्नावली' नाटिका मे भी—

"अन्त पुर म अग्नि अकस्मात् धधकती हुई शीघ्र पडती है। इसने ग्गनचुम्बी अट्टालिकाओ को जलाते हुए स्वर्ण की चोटी का-सा रूप धारण म लिया है। इसने बगीचे के आर्द्रवृक्षो को भी जलाकर अत्यन्त तीव्र ताप का पैदा कर दिया है तथा अपनी धूम से क्रीडा-पर्वत को जल से भरे हुए बादल का-सा रूप बना डाला है। इसके मारे महिलाएँ

प्रशस्त हो गई है।" इत्यादि

फिर इसके बाद वासवदत्ता महाराज से कहती है—"प्रियतम मैं अपने लिए नहीं कह रही हूँ बल्कि मुझ कुलवधू के द्वारा सौंपी गई सागरिका नष्ट हो रही है। उसी की रक्षा के लिए निवेदन कर रही हूँ।" यहाँ पर सागरिका के बचने की बात पाई जाती है, अतः निर्णय हुआ।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

द्रव—गुरुजनों के अपमान करने को द्रव कहते हैं ॥४५॥

जैसे 'उत्तर रामचरित' में लव चन्द्रकेतु से कहता है—

"पुराणों के बारे में कुछ न कहना ही उचित है। वृद्ध की स्त्री ताड़का के वध करने पर भी अप्रतिहत यश वाले वे लोक में श्रेष्ठ ही हैं। खर के साथ युद्ध करने में तीन पग पीछे जिनको हटना पड़ा था और बाली के वध में जिन्होंने सुन्दर युद्ध-कौशल प्रदर्शित किया था उससे भी लोग परिचित ही हैं, अतः वृद्धों के चरित्र की आलोचना न करना ही ठीक है।

यहाँ लव से गुरु राम का तिरस्कार किया है अतः द्रव है।

'वेणीसंहार' में भी—"युधिष्ठिर—सुभद्रा के बड़े भैया बलरामजी सम्बन्धियों के प्रति किए जाने वाले सद्व्यवहार के प्रति आपने जरा भी ध्यान नहीं दिया साथ ही आपने क्षत्रिय धर्म का भी ठीक से पालन नहीं किया। इसके अलावा अपने लघु भ्राता श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन की कैसी मित्रता है इस बात को आपने गुण के समान भी महत्त्व नहीं दिया। आपको भीम और दुर्योधन दोनों शिष्यों में समान ही ममता होनी चाहिए थी। पर न मालूम यह कौनसा मार्ग आपने अपनाया है या मुझ अभागे से आप इस प्रकार रुष्ट हो गए।"

यहाँ पर युधिष्ठिर द्वारा गुरु बलरामजी का तिरस्कार हुआ है, अतः द्रव है।

विरोधशमनं शक्तिः

शक्ति—विरोध के शान्त हो जाने को शक्ति कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में राजा कहते हैं—

मैंने अपनी प्रियतमा वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए बातें बना-बनाकर शपथ खाई, मीठी-से-मीठी चाटुकारिता भरी बातें कहीं निर्लज्ज हो उसके पैरों पड़ा उसकी सखियों ने भी उसके क्रोध को दूर करने के लिए एक न उठा रखी पर उसमें ज़रा भी नरमाहट नहीं आई। आश्चर्य तो इस-बात से होता है कि मेरे द्वारा किये गए इतने उपचार के बाद भी उसके क्रोध के दूर करने में जैसी सफलता प्राप्त न कर सके वैसा स्वयं उसका प्रथम आँसुओं के द्वारा प्रक्षालन करने में समर्थ हो सका।

सागरिका की प्राप्ति का विरोधी वासवदत्ता के कोप का शान्त हो जाना इष्ट है। जैसे 'उत्तर रामचरित' में भी लव का यह कथन—

"वैर शान्त हो गया अतिशय सुख से आज अनुराग फैल रहा है। ऐसा लगता है कि वह मेरे अन्दर का दर्प कहीं चला गया है नम्रता मुझे झुकने के लिए बाध्य कर रही है। इनके (राम के) देखने पर न जाने क्यों पराधीन-सा हो गया हूँ लगता है पवित्र स्थानों की तरह महापुरुषों का कोई बहुमूल्य उत्कर्ष होता है।

तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

द्युति—तर्जन और उद्वेजन को द्युति कहते हैं।

जैसे 'वेणी संहार' में—

"बलराम के भाई कृष्णचन्द्र के इस वाक्य को सुनकर भीमसेन ने उस कासार के जल को आलोड़ित कर दिया। आलोड़न करने से उसका जल सारी दिशाओं को पूरित करके बह चला। सम्पूर्ण जलचर विकल हो गए, मगर और घड़ियाल व्यग्र हो उठे।"

इसके बाद भीमसेन ने भीषण गर्जन के साथ पुनः कहा— अरे रे मिथ्याबल और पराक्रम का अभिमान करने वाले तथा द्रौपदी के केश और वस्त्र के आकर्षण करने वाले महापातकी दुर्योधन!

तुम अपना जन्म विमल चन्द्रवंश में बताते हो और अब भी हाथ

समस्त हो गई है। इत्यादि

फिर इसके बाद वासवदत्ता महाराज से कहती है—'प्रियतम मैं अपने लिए नहीं रो रही हूँ बल्कि मुझ क्रूरहृदया के द्वारा बाँधी गई सागरिका कष्ट पा रही है। उसी की रक्षा के लिए निवेदन कर रही हूँ।' यहाँ पर सागरिका के बन्धन की बात पाई जाती है, अतः विद्रव हुआ।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

द्रव—गुरुजनों के अपमान करने को द्रव कहते हैं ॥४५॥

जैसे 'उत्तर रामचरित' में लव चन्द्रकेतु से कहता है—

'गुरुजनों के बारे में कुछ न कहना ही उचित है। सुन्द की स्त्री ताड़का के वध करने पर भी अप्रतिहत यश वाले वे लोक में श्रेष्ठ ही हैं। खर के साथ युद्ध करने में तीन पग पीछे जिनको हटना पड़ा था और बाली के वध में जिन्होंने सुन्दर युद्ध-कौशल प्रदर्शित किया था उससे भी लोग परिचित ही हैं, अतः वृद्धों के चरित्र की आलोचना न करना ही ठीक है।

यहाँ लव ने वृद्ध राम का तिरस्कार किया है अतः द्रव है।

'वेणीसंहार' में भी—"युधिष्ठिर—सुभद्रा के बड़े भैया बलरामजी सम्बन्धियों के प्रति किए जाने वाले सद्व्यवहार के प्रति आपने कुछ भी ध्यान नहीं दिया साथ ही आपने क्षत्रिय धर्म का भी ठीक से पालन नहीं किया। इसके अलावा अपने लघु भ्राता कृष्णचन्द्र के साथ अर्जुन की कैसी मित्रता है इस बात को आपने तृण के समान भी महत्व नहीं दिया। आपको भीम और दुर्योधन दोनों शिष्यों में समान ही ममता होनी चाहिए थी। पर न मालूम यह कौनसा मार्ग आपने अपनाया है या कुछ प्रभाव से आप इस प्रकार रुष्ट हो गए।"

यहाँ पर युधिष्ठिर द्वारा वृद्ध बलरामजी का तिरस्कार हुआ है अतः द्रव है।

विरोधशमनं शक्तिः

शक्ति—विरोध के शान्त हो जाने को शक्ति कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—राजा—देवी की मेरे ऊपर तनिक भी कृपा नहीं है। यहाँ पर वासवदत्ता के कार्यों से वत्सराज के अपमानित होने से शमन है। ऐसे ही राम का अपने अभ्युदय के लिए सीता का परित्याग भी शमन ही है।

**व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति**

**व्यवसाय—अपनी शक्ति के कथन को व्यवसाय कहते हैं।**

जैसे 'रत्नावली' में ऐन्द्रजालिक कहता है— महाराज आपकी जिस वस्तु के देखने की आज्ञा हो सब मैं दिखा सकता हूँ। आज्ञा हो तो पृथ्वी पर चन्द्रमा आकाश में पर्वत जल में आग का प्रज्वलित होना दोपहर को सन्ध्या होना दिखा सकता हूँ। अथवा अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? मैं प्रतिज्ञापूर्वक इस बात को कहता हूँ कि अपने गुरुमन्त्र के प्रभाव से आप जो कुछ भी चाहते हो सब दिखा सकता हूँ। ऐसा निवेदन कर ऐन्द्रजालिक ने वत्सराज को सागरिका का दर्शन मिल जाए एतदर्थ मिथ्या अग्नि का प्रदर्शन किया। यहाँ पर अपनी शक्ति के कथन और उसको दिखाने के कारण व्यवसाय है। 'वेणी संहार' में भी— 'आज निश्चय ही अपनी प्रतिज्ञा खण्डित होने के भय से भीमसेन तुम्हारे केशकलापों को खींचने वाले उस दुर्योधन का वध करेगा।

इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा अपनी शक्ति का कथन हुआ है अतः यह व्यवसाय है।

संरब्धानां विरोधनम्।

**विरोधन—शत्रु के साथ बढ़-चढ़कर अपने पराक्रम के कथन को विरोधन कहते हैं।**

जैसे 'वेणीसंहार' में—"राजा (दुर्योधन) अरे र मरणतमय वृद्धावस्था से धाकाल्त पिताजी के सामने इस प्रकार से अपने कुत्सित कर्मों की प्रशंसा क्यों करता है ?

में गदा धारण करते हो तथा रणाङ्गन में शरत्‌ रक्त-रूपी मदिरा से मत्त मुझे शत्रु कहते फिरते हो और अहङ्कार से भरे शत्रु और पाण्डव के बन्धु भगवान्‌ वासुदेव कृष्ण के विषय में असभ्यता का व्यवहार करने वाले नराधम अब मुझसे भयभीत होकर तथा युद्ध से पराङ्मुख होकर अब कीचड़ में आकर छिप हुए हो तुम्हें धिक्कार है।

यहाँ से लेकर दुर्योधन का तालाब कोने में छिपना आदि बातों में और दुर्वचन तथा अपमान से आदि दुर्योधन के लिए जो वचन हैं पाण्डवों के विजय के अनुकूल होने से और भीम की युक्ति व्यक्त होने से युक्ति है।

गुरुकीर्तन प्रसङ्गम्

प्रसङ्ग—गुरुजनों का कीर्तन प्रसङ्ग कहलाता है।

जैसे 'रत्नावली' में वसुभूति का यह वचन—"देव सिंहलेश्वर ने वासवदत्ता जलकर मर गई यह सुनकर पहले सिद्धों के आदेश से माँगी गई अपनी आयुष्मती पुत्री 'रत्नावली' को आपके लिए दिया था।

यहाँ पर वसुभूति द्वारा प्रसंगानुसार अपने स्वामी सिंहलेश्वर और उनकी प्यारी पुत्री 'रत्नावली' का कीर्तन होने के कारण प्रसङ्ग है। मृच्छकटिक में भी इसका उदाहरण मिलता है—"चाण्डाल—हम लोग मन के शासन से देवता ब्रह्मसेना में हवन करने वाले आर्य विनय दत्त के पौत्र सागरदत्त के लड़के चारुदत्त को मारने के लिए वध-स्थान में ला रहे हैं। इसके बाद चारुदत्त मन-ही-मन सोचते हुए कहते हैं—

प्रथम यज्ञानुष्ठान में पवित्र मेरा वंश जो पहले यज्ञ आदि की सभाओं के बीच वेदमन्त्रों से पवित्र किया जाता था वही मेरे कुल का नाम आज दूषित पुरुष कुत्सित वृत्तान्त में घोषित कर रहे हैं।"

इस प्रकार चारुदत्त द्वारा अपने कुल की प्रशंसा किए जाने के कारण प्रसङ्ग है।

छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

छलन—अपमान के होने या करने को छलन कहते हैं ॥४६॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में—राजा—देवी की मेरे ऊपर तनिक भी कृपा नहीं है। यहाँ पर वासवदत्ता के कार्यों से वत्सराज के अपमानित होने से प्रसन्न है। ऐसे ही राम का अपने अभ्युदय के लिए सीता का परित्याग भी प्रसन्न ही है।

व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति

व्यवसाय—अपनी शक्ति के कथन को व्यवसाय कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में ऐन्द्रजालिक कहता है—"महाराज आपकी जिस वस्तु के देखने की आज्ञा हो सब मैं दिखा सकता हूँ। आज्ञा हो तो पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में आग का प्रज्वलित होना, दोपहर को सन्ध्या होना दिखा सकता हूँ। अथवा अधिक कहने की क्या आवश्यकता? मैं प्रतिज्ञापूर्वक इस बात को कहता हूँ कि अपने गुरुमन्त्र के प्रभाव से आप जो कुछ भी चाहते हो सब दिखा सकता हूँ।' ऐसा निवेदन कर ऐन्द्रजालिक ने वत्सराज को सागरिका का दर्शन मिल जाए एतदर्थ मिथ्या अग्नि का प्रदर्शन किया। यहाँ पर अपनी शक्ति के कथन और उसको दिखाने के कारण व्यवसाय है। 'वेणी संहार' में भी—'आज निश्चय ही अपनी प्रतिज्ञा कथित होने के समय से भीमसेन तुम्हारे केशकलापों को खींचने वाले उस दुर्योधन का वध करेगा।'

इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा अपनी शक्ति का कथन हुआ है अतः यह व्यवसाय है।

संरब्धानां विरोधनम्।

विरोधन—शत्रु के साथ बढ़-चढ़कर अपने पराक्रम के कथन को विरोधन कहते हैं।

जैसे 'वेणीसंहार' में—"राजा (दुर्योधन) अरे र, मरुत्तनय वृद्धावस्था से आक्रान्त पिताजी के सामने इस प्रकार से प्रकट कुत्सित कर्मों की प्रशंसा क्यों करता है?

है, आगे होने वाले कार्य को सिद्ध हुए के समान दिखलाना प्ररोचना कहलाता है ॥४०॥

जैसे 'वेणीसंहार' में 'पाञ्चालक—मैं चक्रधारी भगवान् वासुदेव द्वारा आप (युधिष्ठिर) के समीप भेजा गया हूँ। यहाँ से प्रारम्भ करके 'सन्देह करना व्यर्थ है—आपके अभिषेक के लिए मणिमय कलश पूर्ण करके रखे जाएँ द्रौपदी चिरकाल से खोले हुए अपने केशकलाप को शीघ्र बाँधने में हाथ में परशु धारण करने वाले परशुराम और क्रोधोन्मत्त भीमसेन के समरभूमि में उतर पड़ने पर विजय-प्राप्ति में सन्देह कैसा ?

यहाँ से लेकर "महाराज युधिष्ठिर मंगल करने की आज्ञा देते हैं।" यहाँ तक भाग प्ररोचना का है क्योंकि सिद्ध पुरुष कृष्णचन्द्र के आदेश के अनुचर द्वारा पाकर 'विजयश्री हाथ लगने ही वाली है अतः मंगल आदि का अनुष्ठान शीघ्र करें" यह युधिष्ठिर द्वारा विश्वास कर वैसा करने का आदेश दिया जा रहा है।

विकत्थना विचलनम्

विचलन—आत्मश्लाघा करने को विचलन कहते हैं।

जैसे 'वेणीसंहार' में—"भीम—तात अम्ब आपके पुत्र जिसके बल पर समग्र शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाये हुए थे और जिसके अहंकार से सारा संसार तिनके के सदृश तिरस्कृत हुआ था उसी रणकार के पुत्र कर्ण को मारने वाला यह मँझला पाण्डव अर्जुन आप लोगों को प्रणाम करता है।

भीम—सम्पूर्ण कौरवों का मर्दनकारी दुःशासन के रक्तपान से मत्त यह भीम जो दुर्योधन के जङ्घाओं का भंग करने वाला है सिर झुकाकर आप लोगों को प्रणाम करता है।

"इस प्रकार विजयरूपी बीज के अनुकूल अपने गुण के प्रकट करने के कारण विचलन है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में भी—यौगन्धरायण—मैंने देवी वासवदत्ता के पास सागरिका को जो रखा उससे

सागरिका के प्रति भर्ता के आकृष्ट हो जाने से उसे (वासवदत्ता को) पति-वियोग का भी सामना करना पड़ा। इसके अलावा सागरिका से विवाह कराने के उपक्रम से उसे सौत-दुःख का भी अनुभव हमारे ही कारण करना पड़ा। ये दोनों बातें रानी के लिए यद्यपि कष्टप्रद अवश्य हुई हैं पर इससे बढ़कर सुखप्रद बात जो मेरे द्वारा उसके लिए की गई वह है सागरिका से विवाह हो जाने पर रानी के भर्ता वत्सराज को चक्रवर्ती सम्राट् का पद मिल जाना। इस प्रकार रानी को जो मेरे द्वारा कष्ट प्राप्त हुआ है उससे बढ़कर सुख भी मेरे ही द्वारा उसे प्राप्त हुआ है। ऐसा होते हुए भी मैं उनके सामने मुँह दिखाने में लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ।

यहाँ पर यौगन्धरायण द्वारा अपने गुण के कथन होने से विचलन है।

आदान कार्यसंग्रह।

आदान—कार्य-संग्रह को आदान कहते हैं।

जैसे वणीसंहार में है 'भीमसेन—अरे रे, समन्तपञ्चक चारों तरफ भ्रमण करने वाला न मैं राक्षस हूँ न भूत ही किन्तु सपेक्ष शत्रुओं के रक्तरूपी जल से आप्लावित शरीर वाला और उस मन्यु की प्रतिज्ञा रूपी गम्भीर समुद्र को पार करने वाला क्रोधान्ध क्षत्रिय वीर हूँ। अरे समरशेष राजाओ! तुम्हें मुझसे भय भीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम स्वयं ही मरे हुए हाथी घोड़ों की आड़ में छिप रहे हो।

यहाँ पर समस्त रिपुओं के वधरूपी कार्य के संग्रह होने से आदान है। जैसे रत्नावली नाटिका में भी— अरे चारों ओर भगवान् अग्नि क्या प्रज्वलित हो रहे हैं अब आज मेरे सारे दुःख को दूर कर देंगे।

ऊपर कहे हुए तथा अन्य स्थलों में कथित जो दुःखावसान रूप कार्य है उसके संग्रह से 'आदान' है। जैसे (इसी नाटिका में) मेरे स्वामी को ससागर धरा का राज्य मिल गया' (इस यौगन्धरायण की उक्ति से) पहले ही दिखाया जा चुका है।

इस तरह यह अवमर्श सन्धि के अंग हैं। इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान इनकी प्रधानता है।

## निर्वहण सन्धि

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

बीज से सम्बन्धित मुख आदि पूर्व-कथित चारों सन्धियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए समाहार (एकत्रित) हो जाने को निर्वहण सन्धि कहते हैं ॥४८॥

जैसे 'वेणीसंहार' नाटक में कञ्चुकी द्वारा युधिष्ठिर के पास आकर यह निवेदन करना— 'महाराज ! अभ्युदय काल है, यह चिरञ्जीवि भीमसेन ही हैं। सुयोधन के घावों से निकलते हुए रक्त से रंग जाने के कारण इनका सम्पूर्ण शरीर अरुण (रक्तवर्ण) हो गया है, अतएव ये पहचान में नहीं आ रहे हैं। अब अधिक सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। इत्यादि' मुख आदि सन्धियों में द्रौपदी के केश बन्धन रूप जो बीज यत्र-तत्र फैला हुआ है उसका एक प्रधान अर्थ के रूप में एकत्रित हो जाने से यहाँ निर्वहण सन्धि है।

अब इसके अंगों को बताया जा रहा है—

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस सन्धि के १ सन्धि २ विबोध ३ ग्रथन ४ निर्णय ५ परिभाषण ६ प्रसाद ७ आनन्द ८ समय ९ कृति १० भाषण ११ उपगूहन १२ पूर्वभाव १३ उपसंहार, १४ प्रशस्ति ये चौदह अंग होते हैं ॥४९-५०॥

क्रमशः इनके लक्षण दिये जाते हैं—

सन्धिर्बीजोपगमनम्

१ सन्धि—बीज की उद्भावना को सन्धि कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में वसुभूति सागरिका को देखकर यह कहता है कि "यह लड़की तो ठीक राजकुमारी ही जैसी लग रही है।

बाभ्रव्य—मुझे भी तो ऐसी ही लग रही है।

यहाँ पर नायिकारूपी बीज की उद्भावना होती है अतएव यह सन्धि है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी—"भीम—पांचाल राजपुत्रि! क्या तुम्हें यह बात याद है जो मैंने तुमसे कही थी—

हे देवि यह भीम अपनी चपल भुजाओं से घुमाए हुए भयंकर गदा के प्रहार से सुयोधन के जंघों को तोड़कर निकले हुए, गाढ़े रक्त से लिप्त हाथों से रंगता हुआ तुम्हारे केशकलापों को सँवारेगा।"

यहाँ पर सन्धि में रखे हुए बीज की पुनः उद्भावना करने से सन्धि है।

विबोधः कार्यमार्गणम्।

विबोध—कार्य-अन्वेषण को विबोध कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—"वसुभूति—(विचारकर) महाराजा यह लड़की आपको कहाँ से प्राप्त हुई?

राजा—महारानी जानती हैं।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र! अमात्य यौगन्धरायण ने बताया था कि यह लड़की सागर से प्राप्त हुई है, और मुझे सौंपा था। इसीलिए हम लोग इसे सागरिका कहकर पुकारते हैं।

राजा—(अपने-आप सोचता है) अमात्य यौगन्धरायण ने मुझसे बिना बताए ही इसे महारानी को सौंपा है, समझ में नहीं आता क्या बात है? यहाँ पर रत्नावली द्वारा उपस्थित कार्य के अन्वेषण से विबोध है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी भीम युधिष्ठिर से कहते

है—आर्य क्षण-भर के लिए मुझे छोड़ दीजिए।

युधिष्ठिर—क्या अभी और कोई कार्य शेष रह गया है?

भीम—अजी अभी तो बड़े महत्त्व का कार्य बाकी ही रह गया है। सुनिए—मैं दुःशासन के हाथों से खींचे गए पाञ्चाली के उन केशों को जो अभी तक खुले पड़े हैं उसी दुःशासन के रक्त से सने अपने हाथों द्वारा सँवारूँगा।

युधिष्ठिर—जाओ भाई, वह तपस्विनी केश सँवारने के सुख का अनुभव करे।

यहाँ केश को सँवारना-रूपी जो काम है उसके अन्वेषण से विबोध है।

प्रथन तदुपक्षेपो

ग्रथन—कार्य के उपक्षेप (उपसंहार) को ग्रथन कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में—"यौगन्धरायण—महाराज आपसे बिना बताए ही मैंने जो यह सब कार्य कर डाला है एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।

यहाँ पर वत्सराज का 'रत्नावली-प्राप्ति रूप' जो कार्य है उसका उपसंहार होने से यहाँ ग्रथन है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी—

"भीम—पाञ्चाली! तुम मेरे रहते दुःशासन के हाथों से खोली हुई अपनी वेणी को अपने-आप सँवारो ऐसा नहीं हो सकता। ठहरो मैं स्वयं तुम्हारे केशपाश को सँवारूँगा।

यहाँ पर द्रौपदी के केश-संवरण रूप काम के उपक्षेप के कारण ग्रथन है।

अनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ २१ ॥

निर्णय—अनुभूत बात के कथन को निर्णय कहते हैं ॥२१॥

जैसे 'रत्नावली' में यौगन्धरायण का कथन—(हाथ जोड़कर) सिंहलेश्वर की इस कन्या (रत्नावली) के विषय में एक सिद्ध पुरुष ने बताया था कि जो इसका पाणिग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा। इस बात पर विश्वास कर मैंने इस कन्या को सिंहलेश्वर से माँगा। रानी वासवदत्ता के मन में दुःख होगा—इस कारण महेश ने इसे नहीं

दिया। इसके बाद मैंने सिंहलेश्वर के पास बाभ्रव्य को भेजकर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आखेट-शिविर में आग लगने से जलकर मर गई। यहाँ पर यौगन्धरायण ने अपनी अनुभूत बातों को कहा है। अतः निर्णय है। जैसे 'वेणीसंहार' में भी—"महाराज अजातशत्रु अब आज दुर्योधन कहाँ रहा? मैंने तो उस दुष्ट के शरीर को नष्ट कर पृथ्वी पर फेंककर उसके शरीर से निकले गाढ़ रक्त को शरीर में लेप कर लिया है। उसकी राज्यश्री धारा समुद्रों की सीमा तक की पृथ्वी के साथ-साथ आपके यहाँ विश्राम कर रही है। उसके सेवक मित्र सैनिक और यहाँ तक कि सम्पूर्ण कुरुवंश इस रण की ज्वाला में भस्म हो चुके हैं। राजन् दुर्योधन का केवल नाम जो आप इस समय कह रहे हैं बस यह केवल उच्चारण करने के लिए बचा रह गया है।

यहाँ पर भीम के द्वारा अपने अनुभूत अर्थ के कथन होने के कारण निर्णय है।

परिभाषा मिथो जल्पः

परिभाषण—आपसी बातचीत को परिभाषण कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—"रत्नावली—(अपने-आप) मैंने महारानी का अपराध किया है अतः सामने जाने में लज्जा लग रही है।

वासवदत्ता—(आँसुओं के साथ हाथ फैलाकर) 'अरी निष्ठुर, अब भी तो बन्धु-स्नेह प्रदर्शित कर।' फिर राजा से कहती है—महाराज मैंने जो इसके साथ क्रूरता का व्यवहार किया अब लज्जा का अनुभव कर रही हूँ। अतः आप ही कृपा करके इसे शीघ्र बन्धन से मुक्त करें।

राजा—जैसी देवी की आज्ञा। इसके बाद राजा रत्नावली का बन्धन खोलता है। वासवदत्ता रत्नावली की तरफ देखकर कहती है—आर्य यौगन्धरायण के द्वारा कुछ विदित न रहने के कारण मैंने ऐसा निन्दित कर्म किया।

इस प्रकार एक दूसरे की बातचीत के कारण यहाँ परिभाषण है।

प्रसादः पर्युपासनम् ।

प्रसाद—प्रसन्न करने के प्रयत्न को प्रसाद कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में यौगन्धरायण को इस उक्ति से कि 'देव क्षमा करें' दिखाया गया है । या फिर 'वेणी संहार' में भीम द्रौपदी के पास जाकर कहते हैं— 'मनुष्य के नाश हो जाने से तू बड़ी भाग्य शालिनी है ।

यहाँ पर भीम ने द्रौपदी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है अतः 'प्रसाद' है ।

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः

आनन्द—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को 'आनन्द' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में राजा "जैसी देवी की आज्ञा" ऐसा कहकर रत्नावली को ग्रहण करते हैं ।

जैसे 'वेणीसंहार' में द्रौपदी—"स्वामी मैं यह सब व्यापार भूल गई हूँ । अब आपकी कृपा से फिर सीखूँगी । इसके बाद भीम द्रौपदी के केश बाँधते हैं ।

'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति तथा वेणीसंहार में द्रौपदी का भीम द्वारा केश सँवारा जाना अभिलषित की प्राप्ति है अतः 'आनन्द' है ।

समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥

समय—दुःख के दूर हो जाने को 'समय' कहते हैं ॥५२॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में वासवदत्ता रत्नावली का आलिंगन करती है—

'बहन प्रसन्न होओ धीरज धरो धीरज धरो । यहाँ पर दोनों बहनों के समागम से दुःख के दूर हो जाने से 'समय' है । जैसे 'वेणीसंहार' में— 'भगवन् जिस व्यक्ति की मंगल कामना स्वयं पुराण पुरुष भगवान नारायण करते हैं उसकी विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? हे देव स्वेच्छापरिणाम उत्पन्न पृथिवी अब देव

क्या इससे बढ़कर भी मेरा कोई उपकार हो सकता है ?

मुझे आपके प्रयत्न से विक्रमबाहु-जैसे प्रतापशाली राजा का सौहार्द प्राप्त हुआ और साथ ही सम्पूर्ण विश्व के राज्य की प्राप्ति का कारण-स्वरूप पृथ्वी की एक ही सार वस्तु 'रत्नावली' नाम की प्रिया मिल गई। बहन की प्राप्ति से रानी वासवदत्ता को प्रीति प्राप्त हो गई तथा कौशल-नरेश के राज्य पर मेरी विजय-वैजयन्तिका फहराई। अब आप-जैसे अमात्य-प्रवर के रहते ऐसी कौनसी वस्तु बच गई है जिसकी प्राप्ति के लिए मैं उत्सुकता प्रकट करूं।

यहाँ पर काम अर्थ मान आदि की प्राप्ति हो जाने से भाषण है।

**कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥ ५३ ॥**

पूर्वभाव और उपगूहन—कार्य के दर्शन को पूर्वभाव तथा अद्भुत वस्तु की प्राप्ति को उपगूहन कहते हैं ॥५३॥

पूर्वभाव का उदाहरण जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—"यौगन्धरायण—(हँसकर) महारानी अब आपने अपनी बहन को पहचान लिया इसलिए जो उचित समझें करें।

वासवदत्ता—(मुस्कराकर) तो यही क्यों नहीं कह देते कि 'रत्नावली' महाराज को दे दीजिए।

यहाँ निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज को 'रत्नावली' दे दीजिए। यहाँ पर मन्त्री यौगन्धरायण के इस भाव को रानी वासवदत्ता ताड़ गई, अतः यह पूर्वभाव है। उपगूहन का उदाहरण 'वेणीसंहार' में—"भीषण समराग्नि से बचते हुए बचे हुए राजपुत्रों का कल्याण हो।

वैषम्य में—जिसके बिखर जाने में सौभाग्य पाण्डुपुत्रों के द्वारा राजाओं का संहार हुआ और जिसके कारण राजरमणियों के केश समाप्त दिन-प्रतिदिन समस्त दिशाओं में बिखरते जा रहे थे (राजाओं की स्त्रियाँ समरांगण में पति के मारे जाने से वैधव्य का दुःख पा रही थी) वह अब होने पर यमराज का मित्र कौरवों के लिए धूमकेतु के समान द्रौपदी का केशपाश आज भाग्य से बँध गया। अतः अद्भुतार्थ के

सत्यकामी का सब मंगल हो तथा राजकुल का कल्याण हो ।

युधिष्ठिर—देखि आकाश में विचरण करने वाले सिद्ध लोगों द्वारा भी तुम्हारे केशकलाप के सँवारे जाने का अभिनन्दन हो रहा है ।

यहाँ पर अद्भुत वस्तु की प्राप्ति के कारण उपगूहन है साथ ही अन्य-प्रयोजन निमित्तक शान्ति के हाल से ह्रास भी है ।

वराप्तिः काव्यसंहारः

काव्यसंहार—श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति को काव्यसंहार कहते हैं ।

जैसे नाटकों के अन्त में प्राय यह वाक्य मिलता है—"और मैं आपका कौनसा उपकार करूँ ?"

यहाँ पर काव्य के अर्थ के संहरण (उपसंहार) होने से काव्य-संहार होता है ।

प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

प्रशस्ति—कल्याणप्रद वस्तु के कथन को प्रशस्ति कहते हैं ।

जैसे 'यदि आप बहुत ही प्रसन्न हैं तो यह हो—

लोग प्रसन्न और रोगरहित दीर्घजीवी बनें जनता अभेद छोड़कर भगवद्भक्ति-परायण बने । राजा लोग समस्त प्रजाओं से प्रेम रखते हुए और विद्वानों का पोषण करते हुए तथा गुणों की महत्ता पर विशेष ध्यान देते हुए सर्वदा समुज्ज्वल कार्य में दत्तचित्त रहें ।

यहाँ पर कल्याणकारी बात के कथन होने से प्रशस्ति है । ये १४ निर्वहण सन्धि के अंग हैं ।

यहाँ तक ६४ अंगों वाली पाँच सन्धियों को बताया गया । अब इन सन्धियों के प्रयोजन को बताते हैं ।

उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥

ऊपर बताई हुई ६४ सन्धियों के ६ प्रकार के प्रयोजन होते हैं —

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ ५५ ॥

विवक्षित अर्थ की रचना, २ गोप्य (छिपाने योग्य) वस्तु

को पुष्ट ही रखना ३ जिस बात का कहना उचित है उसको प्रकाश में लाना ४ दर्शकों के अन्दर नाट्य के विषय में प्रीति पैदा करना ५. चमत्कार पैदा करना ६. कथा को विस्तृत करना ॥ ५४-५५ ॥

उपर्युक्त छः बातों के लिए रूपक में ६४ सन्ध्यङ्गों को लाना चाहिए। इसके बाद ग्रन्थकार फिर वस्तु का विभाग दूसरी दृष्टि से करते हैं —

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत्किंचिद्दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥ ५६ ॥

नाट्य में आने वाली कथावस्तु को दो श्रेणियों में बाँट देना चाहिए। उसमें एक विभाग ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा केवल सूचना-मात्र दी जाती हो तथा दूसरा ऐसा होना चाहिए जो सबके सुनने योग्य होने से दिखाया जा सके। इसमें पहले को 'सूच्य' तथा दूसरे को दृश्य कहते हैं ॥५६॥

नीरसोऽनुचितस्तत्र स सूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

१ सूच्य—नाट्य में आने वाली ऐसी कथावस्तु को जो नीरस तथा अनुचित हो उसकी केवल सूचना-मात्र दे देनी चाहिए।

२ दृश्य—ऐसी कथावस्तु को जिसमें मधुर और उदात्त रस तथा भाव पूर्णतया (सवासव) भरे हों दिखाना चाहिए ॥५७॥

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

सूच्य कथावस्तु की सूचना अर्थ की सूचना देने वाले विष्कम्भक चूलिका अङ्कावतार, अङ्कास्य प्रवेशक इनके द्वारा देनी चाहिए ॥५८॥

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

१ विष्कम्भक—जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो आगे

होने वाली हो, उसकी सूचना संक्षेप में मध्यपात्र के द्वारा दी जाती है उसे विष्कम्भक कहते हैं ।।५६।।

यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण ।

एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः ।

शुद्ध विष्कम्भक—जब एक या दो मध्यम पात्रों के द्वारा सूचना दी जाती है तो शुद्ध विष्कम्भक होता है ।

संकीर्ण विष्कम्भक—जब मध्यम या अधम पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है तो संकीर्ण विष्कम्भक होता है ।

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।। ६० ।।

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

प्रवेशक—इसमें बीती हुई तथा आगे आने वाली बातों की सूचना दी जाती है । पर इसमें सूचक नीच पात्र ही रहते हैं । इसकी भाषा प्राकृत होती है । यह दो अङ्कों के बीच में आता है इसमें छूटी हुई बातों की सूचना दी जाती है ।।६ ।।

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ।। ६१ ।।

३ चूलिका—नेपथ्य के पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना देने को चूलिका कहते हैं ।।६१।।

जैसे उत्तररामचरित के द्वितीय अङ्क के आदि में—नेपथ्य में—तपोधना का स्वागत है । इसके बाद तपोधना आत्रेयी प्रवेश करती है । इस प्रकार यहाँ नेपथ्य पात्र के द्वारा वनदेवता वासन्ती को आत्रेयी के आगमन के विषय में सूचना दी गई है अतः यहाँ चूलिका है और जैसे महावीर चरित के चतुर्थ अङ्क के आदि में (नेपथ्य में)—

वायुमार्ग से भ्रमण करने वाले सज्जनो ! मङ्गल मनाओ मङ्गल मनाओ—कृशाश्वमुनि के शिष्य विश्वामित्र जिनका प्रताप सूर्यवंश में आज भी विराज रहा है उनकी जय हो ! और साथ ही क्षत्रियों के वैरी परशुरामजी पर विजय प्राप्त करने वाले रामचन्द्र जो संसार को अभय प्रदान करने का व्रत धारण करते हैं और जो तीनों लोकों की

रक्षा करने वाले तथा मुमुक्षु के लिए परमात्मा के समान हैं उनकी जय हो।

यहाँ पर नेपथ्य में देवों द्वारा 'परशुराम पर राम ने विजय प्राप्त कर ली' इस बात की सूचना दी गई है अतः यहाँ चूलिका है।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।

अङ्कास्य—अङ्क के अन्त में आने वाले पात्र के द्वारा अगले अङ्क के प्रारम्भ में आने वाले पात्रों आदि की सूचना देने को अङ्कास्य कहते हैं।

जैसे 'महावीर चरित' में द्वितीय अङ्क के अन्त में प्रविष्ट होकर सुमन्त्र कहते हैं— आप लोगों को परशुराम के साथ-साथ वशिष्ठ और विश्वामित्र बुला रहे हैं।

अन्य लोग—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र कहाँ हैं ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास में विद्यमान हैं।

अन्य लोग—तो फिर उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर हम लोग जा रहे हैं।

इस प्रकार द्वितीय अङ्क की समाप्ति हो जाती है उसके बाद तीसरे अङ्क के प्रारम्भ में वशिष्ठ, परशुराम और विश्वामित्र आसीन दिखाई देते हैं।

अङ्कावतार—एक अङ्क की कथा दूसरे अङ्क में बराबर चलती रहे तो उसे अङ्कावतार कहते हैं। पर इस कथा में प्रवेशक और विष्कम्भक का स्थान नहीं रहता, अर्थात् यह कथा प्रवेशक विष्कम्भक-विहीन होती है।

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥ ६२ ॥

एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत्।

अङ्कावतार नामक रूप का भाव यही है कि इसमें अङ्क के अन्त में आने वाली कथा का दूसरे अङ्क में उतार होता है ॥६२॥

इनसे सूच्य वस्तु की सूचना होती है तथा दृश्य वस्तु का अङ्कों में दिखाया जाता है पर दिखाया यह जाता है कि प्रवेशक और विष्कम्भक

का प्रयोग नहीं किया जाता ।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक में विदूषक कहता है—"तो आप दोनों देवी के प्रेक्षागृह में जाकर संगीत का साज सजाएँ और सब ठीक हो जाने के बाद सूचित करें। अथवा मृदंग का शब्द ही उन्हें उठा देगा।" इस प्रकार के उपक्रम के चलते रहने पर मृदंग के शब्द के सुनने के अनन्तर सभी प्रथम अंक के पात्र द्वितीय अंक के प्रारम्भ में प्रथम अंक की कथा को त्रुटित किए बिना ही द्वितीय अंक के प्रारम्भ में उतर पड़ते हैं। इसी को अङ्कावतार कहते हैं।

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥ ६३ ॥

नाट्य-धर्म की दृष्टि से ग्रन्थकार फिर वस्तु को तीन कोटियों में विभक्त करते हैं ॥६३॥

ये तीनों भेद कैसे होते हैं इस बात को नीचे बताया जाता है—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥ ६४ ॥

नाट्य में कुछ अंश ऐसा होता है जिसको सब कोई सुन सकता है पर कुछ अंश ऐसा भी होता है जो किसी-किसी को या सबको सुनाने के योग्य नहीं होता। इनमें प्रथम को प्रकाश तथा दूसरे को स्वगत कहते हैं ॥६४॥

द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।

इसके अलावा एक नियतश्राव्य होता है। ऐसा नाटकीय अंश जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के ही सुनने के लिए व्यवहृत होता है नियत-श्राव्य कहलाता है। इसके दो भेद होते हैं—१ जनान्तिक और २ अप-वारित ।

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

जनान्तिक—अनामिका को छोड़ बाकी तीन अँगुलियों को ऊपर करके

दो आदमियों की गुप्त बातचीत को जनान्तिक कहते हैं ॥६५॥

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

अपवारित—पास विद्यमान पात्र की ओर से मुँह फेरकर उससे छिपाकर उसके किसी रहस्य की बात पर कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं ॥६६॥

नाट्यधर्म की चर्चा छिड़ गई है अतः इसी सिलसिले में आकाश भाषित का बखान है—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

आकाशभाषित—ऊपर देखता हुआ अकेला ही कोई पात्र बिना किसी दूसरे के कहे-सुने ही सुनने का नाट्य करता हुआ जब स्वयं प्रश्नों को दुहराता है या स्वयं उसका उत्तर देता है उसे आकाशभाषित कहते हैं। बिना किसी के कुछ बोले ही क्या कह रहे हो ? इस प्रकार से प्रश्नों को करके उसका उत्तर भी कुछ मन से बनाकर फिर कुछ बोलता है। इस प्रकार का क्रम इसमें जारी रखता है इसी को आकाशभाषित कहते हैं ॥६७॥

कुछ लोगों ने ऊपर बताए हुए नाट्य-धर्मों के साथ-साथ कुछ और भी नाट्य-धर्मों को बताया है पर वे हमारी दृष्टि में नाट्य-धर्म के भीतर नहीं आ सकते क्योंकि एक तो वे अभारतीय हैं (भरत मुनि के कहे हुए नहीं हैं) उनकी केवल नामावली में ही प्रसिद्धि है। दूसरे उनमें के अधिकांश देश भाषा में प्रयुक्त होते हैं। अतः इनको नाट्य का धर्म न मानना ही उचित समझकर इनके लक्षण आदि का प्रदर्शन नहीं किया गया है।

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या
च्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥ ६८ ॥

रामायण और बृहत्कथा के देखने और उसके ऊपर सूक्ष्म विचार करने से वस्तु के अनन्वित भेद दिखाई देते हैं अतः नाट्य-प्रणेता के लिए यह उचित है कि वह उन वस्तुओं को नेता और रस के अनुकूल सुन्दर वचन रचना-चातुरी से सजाकर विचित्र-विचित्र कथाओं का प्रणयन करे ॥६८॥

धनञ्जयकृत दशरूपक का प्रथम प्रकाश समाप्त।

वस्तु वर्णनीय विषय को कहते हैं उसके अनेक भेद होते हैं। (यह बात पहले बताई जा चुकी है) बृहत् कथा की चर्चा कारिका में आई है यह गुणाढ्य द्वारा निर्मित है। नाट्य-प्रणेताओं को उस बृहत् कथा और रामायण आदि का सम्यक् रूप से अध्ययन करके तब लेखनी का उपयोग करना चाहिएँ। नेता और रस के बारे में आगे के प्रकरणों में बताया जायगा। उसका भी समुचित ज्ञान नाटककार के लिए आवश्यक है। कथा का अर्थ आख्यायिका समझना चाहिए। ये आख्यायिकाएँ सुन्दरता और विचित्रता से भरी होनी चाहिएँ। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर सुन्दर-सुन्दर वचन रचना-चातुरी के द्वारा कथा को विस्तार के साथ वर्णन करना चाहिए। जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक की मूलकथा अति अल्प रही पर कवि ने अपनी वचन रचना चातुरी के द्वारा कथा को इतना विस्तार दिया। बृहत् कथा में मुद्राराक्षस की मूलकथा केवल इतनी ही रही— 'चाणक्य नामक ब्राह्मण ने शकटदास के घर में गुप्त गुप्त क्रियाओं का सम्पादन कर राजा को उसके पुत्रों के साथ मार डाला और इसके बाद नव योगानन्द का केवल नाम मात्र ही शेष रह गया उस समय नन्द के पालने पड़ने चन्द्रगुप्त को उस महापराक्रमशाली चाणक्य ने राजा बनाया।' इस प्रकार मुद्राराक्षस की कथा बृहत् कथा में केवल सूचित कर दी गई थी और इसी सूचनामात्र कथा के आधार पर 'मुद्राराक्षस' नाटक की रचना हुई। इसी प्रकार रामायण से कथित राम-कथा को भी जानना चाहिए।

विष्णुपुत्र धनिककृत 'दशरूपावलोक' व्याख्या का प्रथम प्रकाश समाप्त।

# द्वितीय प्रकाश

रूपकों का आपस में एक-दूसरे से क्या भेद है, इसकी जानकारी के लिए वस्तु के भेदों का प्रतिपादन करके अब नायक के भेद बतलाते हैं —

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥१॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥२॥

नेता विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृति-सम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्म-सम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। १ २।

१ नेता अर्थात् नायक विनयादि गुणों से सम्पन्न होता है। उसमें विनीत को बतलाते हैं। जैसे 'वीरचरित' नाटक में—

धनुष के टूटने से क्रुपित परशुराम के प्रति रामचन्द्र कह रहे हैं—"हे देव ब्रह्मज्ञानियों के द्वारा जिनके पूज्य चरणों की उपासना की जाती है ऐसे आप विद्या और तपस्यारूपी अनुष्ठानों के समुद्र तथा तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं। मैंने यदि अज्ञानतावश दैवात् आपका कोई अपराध भी कर दिया हो तो क्षमा प्रदान करें। हे नाथ प्रसन्न होइए, अपने द्वारा किये गए अपराधों के प्रति क्षमायाचना के लिए मैं करबद्ध प्रार्थी हूँ।"

२ देखने में जो प्रिय लगे उसको मधुर कहते हैं। जैसे यहाँ पर—

परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—"हे राम अपने शरीर के

प्रकार का अलौकिक पराक्रम निश्चय ही आपके कार्यों से व्यक्त है। आपके त्याग के बारे में क्या कहना आपने सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी को बिना किसी हिचक के ब्राह्मणों को दान दे दिया।

७ रक्तलोक—(अर्थात् सबका प्रिय होना) जैसे यहीं पर—

*अयोध्या की प्रजाएँ महाराज दशरथ से कह रही हैं—"हे महाराज* वंशश्री के रक्षा करने वाले आपके पुत्र श्री रामचन्द्र हैं वे आपकी कृपा से राजगद्दी पर सुशोभित हो गए, उनके एस राजा को पाकर हम लोगों की सारी अभिलाषाएँ और मनोरथ पूरे हो गए, अतः हम लोग आनन्द के साथ विचर रहे हैं।

इसी प्रकार शुचि आदि का भी उदाहरण दिया जा सकता है।

८ शुचि (शौच)—मानसिक पवित्रता से काम आदि दोषों को दबा देने का नाम शौच (शुचि) है। जैसे 'रघुवंश' महाकाव्य में—

हे शुभे तुम कौन हो तथा किसकी प्रेयसी हो? और इस अर्धरात्रि के समय एकान्त में मेरे पास किस मनोरथ से आई हुई हो? पर ही मेरे प्रश्नों का उत्तर इस बात पर ध्यान रखकर देना कि रघुवंशियों का मन पराई स्त्री से विमुख रहने वाले स्वभाव का होता है।

९. वाग्मी—जो युक्तियुक्त बात करने वाले को वाग्मी कहते हैं।

जैसे 'हनुमन्नाटक' में रामचन्द्र परशुराम से कह रहे हैं—'हे परशुरामजी धनुष के टूटने के पहले मुझे अपनी भुजाओं का भी बल मालूम न था। साथ ही मुझे यह भी ज्ञात नहीं था कि भगवान् शंकर का धनुष इतनी कमजोरी वाला है कि इसे बाण से टूट जाएगा। उपर्युक्त दोनों बातों का ज्ञान का न होना ही मेरा दोष है अतः आप मेरी चपलता को क्षमा करें। आपको द्वारा किया गया अनुचित कर्म भी गुरुजनों के लिए आनन्दप्रद ही होता है।

१ दृढ़ता—उच्चकुल को कहलाता कहते हैं।

जैसे कोई राजा दशरथ से कहता है—

धीरशान्त

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

धीरशान्त नायक सामान्य गुणों से युक्त होता है। इसके पात्र द्विज आदि (ब्राह्मण मन्त्री वैश्य) होते हैं।

नेता में विनीत आदि जो साधारण गुण हैं उनसे युक्त होते हुए धीरशान्त द्विजादिक (ब्राह्मण मन्त्री वणिक) ही होते हैं यह जो बात बताई गई है इससे ग्रन्थकार को धीरशान्त नायक रूप में प्रकरण का ही नायक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है। इसी से ब्राह्मण आदि में धीरललित नायक की निश्चिन्तता आदि गुणों के रहने की सम्भावना रहते हुए भी उनको धीरशान्त ही माना जाता है धीरललित नहीं। जैसे मालतीमाधव और मृच्छकटिक आदि प्रकरणों में माधव और चारुदत्त आदि धीरशान्त ही माने जाते हैं। मालतीमाधव प्रकरण में कामन्दकी मालती से माधव का परिचय देती हुई कहती है—

"जैसे सुन्दर गुण से युक्त देदीप्यमान किरणों तथा कलाओं वाला और नेत्रधारियों के आनन्द को बढ़ाने वाला चन्द्रमा उदयगिरि पर्वत से उत्पन्न होता है ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे हुए गुणों वाला यह माधव भी उत्तम कुल से उत्पन्न हुआ है।

अथवा जैसे 'मृच्छकटिक' नाटक में वध्य स्थान में चाण्डालों द्वारा ले जाए जाते हुए चारुदत्त का दुःखी होकर यह कथन—

अनेक यज्ञों से पवित्र मेरा कुल जो पहले यज्ञ प्रभृति सभाओं में

---

१ सत्यनारायण कविरत्न का पद्यानुवाद—

प्रगटित गुन द्युति सुन्दर महान<br>
अति मधु मनोहर कलावान।<br>
जन्यो इक यह जगदृग आनन्द<br>
जिमि उदयाचल सों बालचन्द ॥

[मालतीमाधव २ १ ]

सूर्य वंश के क्षत्रिय कुल में सन्तान रूपी मल्ली (बेला का फूल) पुष्प की न मुरझाई हुई माला के समान जो आपने राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न इन चार पुत्रों को पैदा किया है, उनमें प्रथम ताड़कारूपी काल रात्रि के लिए प्रभात के समान तथा सुचरित कथा रूपी कदली के मूलकन्द के समान जो ये राम हैं ये अपने गुणों में सबसे बढ़कर हैं और इनके गुणों की कोई सीमा नहीं है।

११ स्थिर—वाणी मन और क्रिया आदि से जो अचञ्चल हो वे स्थिर कहते हैं। जैसे 'महावीरचरित' नाटक में परशुराम द्वारा दिये गए धनुष को चढ़ाकर रामचन्द्र कहते हैं— हे मुनि गुरुजन के अनादर के कारण मुझे भले ही प्रायश्चित करना पड़े इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं पर इस प्रकार से अर्थात् चाप पर दया करके धनुष का चढ़ाना निष्फल कर दूँ और शस्त्र ग्रहणरूपी महाव्रत को दूषित कर दूँ ऐसा मुझसे कदापि नहीं हो सकता। अथवा जैसे 'भर्तृहरि शतक' में— कवि कहता है कि इस संसार में तीन ही प्रकार के पुरुष पाए जाते हैं—(१) नीच (२) मध्यम और (३) उत्तम। इनमें नीच या अधम पुरुष का यही लक्षण है कि वह विघ्नों के भय से किसी काम को शुरू ही नहीं करता। मध्यम पुरुष कामों को आरम्भ तो अवश्य करता है, पर विघ्नों के आ जाने पर अपने कार्य को बीच में ही छोड़कर बैठ जाता है पर उत्तम पुरुष की यह विशेषता होती है कि वह विघ्नों के बार-बार प्रहार के बावजूद भी जब तक कार्य पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो जाता तब तक करता रहता है।

१२ युवा—युवा अवस्था तो प्रसिद्ध ही है। बुद्धि ज्ञान को कहते हैं। वही बुद्धि विशेष रूप से ग्रहण की जाने पर प्रज्ञा कहलाती है। जैसे 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में—

"मैं जो-जो भाव उसे सिखलाता हूँ उन्हें जब वह और सुन्दरता के साथ करके दिखाने लगती है तो ऐसा भान पड़ता है मानो वह उलटे मुझे ही सिखला रही है। और सब तो स्पष्ट ही है।

नेता के साधारण गुणों के बतला चुकने के बाद अब उनमें विशेष

धीरशान्त

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

धीरशान्त नायक सामान्य गुणों से युक्त होता है। इसके पात्र द्विज आदि (ब्राह्मण मन्त्री वणिक) होते हैं।

जैसा कि विनीत आदि जो सामान्य गुण हैं उनसे युक्त होते हुए धीरशान्त द्विजादिक (ब्राह्मण मन्त्री वणिक) ही होते हैं यह जो बात बताई गई है इसका प्रयोजन यही है कि धीरशान्त नायक रूप में प्रकरण का ही नायक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है। इसी से ब्राह्मण आदि में धीरललित नायक की निश्चिन्तता आदि गुणों के रहने की सम्भावना रहते हुए भी उनको धीरशान्त ही माना जाता है धीरललित नहीं। जैसे मालतीमाधव और मृच्छकटिक आदि प्रकरणों में माधव और चारुदत्त आदि धीरशान्त ही माने जाते हैं। मालतीमाधव प्रकरण में कामन्दकी मालती से माधव का परिचय देती हुई कहती है—

'जैसे सुन्दर गुण से युक्त देदीप्यमान किरणों तथा कलाओं वाला और नेत्रधारियों के आनन्द को बढ़ाने वाला चन्द्रमा उदयगिरि पर्वत से उदय लेता है ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे हुए गुणों वाला यह माधव भी अपने श्रेष्ठ कुल से उत्पन्न हुआ है।

अथवा जैसे 'मृच्छकटिक' नाटक में वध्य स्थान में चाण्डालों द्वारा ले जाए जाते हुए चारुदत्त का दुःखी होकर यह कथन—

मखैः यज्ञों से पवित्र मेरा कुल जो पहले सद्-प्रभृति सभाओं में

---

१ सत्यनारायण कविरत्न का पद्यानुवाद—

प्रगटित गुन युति सुन्दर महान
अति मधु मनोहर कलावान ।
उदयो इक यह जगदेव अनन्य
जिहि उदयाचल सों बालचन्द्र ॥

[मालतीमाधव २-१ ]

वेद-ध्वनि से प्रकाशित होता था वही मेरा कुल मेरे मरण-काल में नीच मनुष्यों के द्वारा निन्दनीय कर्मों से जोड़कर घोषित किया जा रहा है।

धीरोदात्त

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥४॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

धीरोदात्त नामक महापराक्रमशाली अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान्, अपनी प्रशंसा स्वयं न करनेवाला स्थिर, अव्यक्त अहंकारवाला दृढव्रती आदि गुणों से युक्त होता है ॥४॥

जिसका अन्तःकरण शोक क्रोध आदि से पराजित (दबता) नहीं होता उसे महापराक्रमशाली (महासत्त्व) कहते हैं। जिसके कार्य विनय और नम्रता से युक्त हुआ करते हैं उसे अव्यक्त अहंकारवाला कहा जाता है। दृढ़व्रत कहने का भाव यह है कि वह जिस कार्य में हाथ डाल देता है उसका अन्त तक निर्वाह करता है।

धीरोदात्त नायक का उदाहरण 'नागानन्द' नाम की नाटिका में—(जीमूतवाहन गरुड़ को सम्बोधित करके कहते हैं—) हे गरुड़ मेरे शरीर में अभी मांस विद्यमान है क्योंकि धमनियों में रक्त का संचार ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् ही है और आप अभी तृप्त नहीं दीख पड़ते हैं। फिर ऐसी कौनसी बात आ उपस्थित हुई है जिसके कारण तुम मांस भक्षण से विरत हो गए हो ? और भी—(रामचन्द्र के बारे में कोई कह रहा है कि) "जब रघुकुलतिलक राम को राज्याभिषेक के लिए बुलाया गया तब और जब पिता द्वारा चौदह वर्ष का वनवास सुनाया गया तब इन दोनों प्रवादों के सुनने के समय उनके मुख पर जरा भी प्रसन्नता या दुःख के चिह्न नहीं दिखाई दिए।

पहले नेता के सामान्य गुणों में जिन गुणों को गिनाया गया है उनमें से कई-एक विशेष भेदों में भी आ गए हैं। विशेष भेदों में इनको

पुनः गिनाए जाने का भाव नहीं है कि इन गुणों की अधिकता विशेष भेदों में आवश्यक है।

शास्त्रार्थ

पूर्वपक्ष—नागानन्द के नायक जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक क्यों माना जाता है? धीरोदात्त का अर्थ सर्वोत्कृष्टत्व होता है जो कि विजय की इच्छा रखने वाले विजेता में ही पैदा होता है और रहता है। नागानन्द में कवि ने जीमूतवाहन को विजय की इच्छा से पराङ्मुख वृत्ति वाले शान्त की तरह चित्रित किया है। अतः जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक मानना ठीक नहीं है, जैसे जीमूतवाहन कह रहे हैं—

पिताजी के सामने ज़मीन पर बैठे रहने में जो आनन्द आता है वैसा आनन्द भला कहीं सिंहासन पर आरूढ़ होने पर मिल सकता है? [अर्थात् कभी नहीं मिल सकता] पिताजी की शुश्रूषा करते समय उनके चरणों को दबाने में जिस आनन्द की प्राप्ति होती है वह भला राज्य से कहीं मिल सकती है? उनके जूठन खाने में जो सन्तोष मिलता है उसके सामने तीनों लोकों का भोग किस मतलब के? अतः पिताजी से रहित इस राज्य का सञ्चालन केवल आयास मात्र ही है। और भी—"पिताजी की सेवा करने के लिए मैं अपने वंश-परम्परागत राज्य को छोड़कर वन जा रहा हूँ। इत्यादि बातों से जीमूतवाहन धीरोदात्त नहीं अपितु धीरशान्त नायक लगते हैं, क्योंकि उनमें अन्दर परम कारुणिकता और शम की प्रधानता दीख पड़ती है।

इस नाटक के रचयिता ने जीमूतवाहन को धीरशान्त नायक चित्रित करते हुए एक बहुत बड़ा दोष ला दिया है, वह यह है कि इस प्रकार के राज्य-सुख आदि की अभिलाषा न रखने वाले शान्त-प्रकृति नायक के साथ बीच-बीच में मलयवती का आसक्ति से भरा हुआ अनुराग चित्रण प्रस्तुत करना। नाटक में इस प्रकार के धीरशान्त नायक के साथ मलयवती के अनुराग का वर्णन अनुचित है।

पहले बताया गया है कि धीरोदात्त नायक ब्राह्मण, वैश्य और मन्त्री ही हो सकते हैं, क्षत्रिय या राजा नहीं। यह भी बताना ठीक नहीं है। किसी चीज की परिभाषा बना देने मात्र से वास्तविकता से आँख नहीं मूँदी जा सकती।

यह बात बिलकुल ही गलत है कि राजा और क्षत्रिय होने से कोई धीरशान्त नहीं हो सकता। इसलिए बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि का व्यवहार वस्तुतः शान्तता को ही प्रकट करता है, अतः इनको धीरशान्त मानना ही युक्तिसंगत है, धीरोदात्त मानना नहीं।

उत्तर पक्ष—औदात्य की परिभाषा सर्वोत्कृष्ट होना बताकर यह जो कहा गया कि उसका लक्षण जीमूतवाहन में नहीं पाया जाता है, सो ठीक नहीं है। विजय की इच्छा सबकी एक ही प्रकार की नहीं होती। उसके अनेक भेद होते हैं। केवल शत्रु को जीतकर उसके धन आदि का ग्रहण करने वाला ही विजेता नहीं कहलाता। क्योंकि केवल इस प्रकार के ही व्यक्ति को विजेता कहें तब तो इस प्रकार के गर्हित मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति भी विजेता कहा जाने लगेगा। इसलिए विजिगीषु (विजयेच्छु) का यह लक्षण करना उचित है कि जो अपने शौर्य आदि किसी गुण से सबका पराभव करके सर्वोत्कृष्ट हो, उसे विजिगीषु या विजेता कहते हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम राम ने रावण पर चढ़ाई की और विजय प्राप्त करने पर उन्हें द्रव्य आदि तथा यश की प्राप्ति हुई। अतः "केवलमात्र रिपु का पराभव कर धन प्राप्त कर लेना ही विजिगीषुता है" यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि राम ने रावण पर जो चढ़ाई की और युद्ध में पराजित कर उसका वध किया, इसका मुख्य उद्देश्य शिष्ट की रक्षा के लिए दुष्ट को दण्ड देना था। इसी हेतु से इस काम में प्रवृत्त हुए थे। युद्ध में विजय प्राप्त करने पर जो भूमि आदि की प्राप्ति हुई वह तो बिना किसी विघ्न-बाधा और बिना किसी प्रयत्न के यों ही मिल गई। भूमि आदि की प्राप्ति के लिए वे युद्ध में प्रवृत्त नहीं हुए थे।

इसी प्रकार से जीमूतवाहन अपने प्राणों तक से दूसरे के उपकार में

नम ज्ञान के कारण विश्व का अतिक्रमण कर जाते हैं अतः वे सर्वोत्कृष्ट उदात्त गुण वाले हैं।

तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा   पिताजी के सामने जमीन पर खड़े रहने में जो आनन्द आता है वह सिंहासन पर आसीन रहने में कहाँ ? इत्यादि उदाहरण में विषयपराङ्मुखता देख जीमूतवाहन पर जो कायरता का आरोप किया जाता है वो ठीक नहीं है, क्योंकि कृपणता और कायरता का कारण जो सुख की प्राप्ति का तृष्णा है उससे तटस्थ रहना उसकी इच्छा न रखना ही असली जिगिषुता की पहचान है।

विजेता (विजिगीषु) कैसे हुआ करते हैं और उनका कार्य किस प्रकार का हुआ करता है, इसके बारे में बताया भी गया है—

'विजिगीषु पुरुष अपनी सुख की अभिलाषा न रखते हुए दूसरे के उपकार के लिए ही कष्ट सहते रहते हैं। [अथवा यों कह सकते हैं कि उनकी प्रतिदिन की दिनचर्या ही इस प्रकार की रहती है।] वृक्ष अपने सिर पर सूर्य के तीव्र संताप को सहते हुए भी सूर्य-किरणों से संतप्त अन्य जन के परिताप को, जो उसकी छाया का आश्रयण करते हैं निरन्तर ही शान्त करता रहता है। इत्यादि उदाहरणों से विजिगीषुता किसे कहते हैं यह बात साफ हो जाती है।

शान्त विरोधी रस का आश्रय करके रहनेवाला शमप्रकृति का अनुराग नायक में धीरता का अभाव ही बतलाता है। शान्त का अर्थ होता है अहङ्कार का न रहना जो कि ब्राह्मण आदि के ही अन्दर पाया जाता है। लक्षण में भूम्भूर की अवास्तविक बातें नहीं हैं बल्कि ब्राह्मण स्वभाव से ही अहङ्कार रहित होता है ऐसी वस्तुस्थिति है। बुद्ध और जीमूतवाहन में एक ही ऐसी कारुणिकता के रहते हुए भी सकाम और निष्काम होने से आपस में भेद है। अतः जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक मानना ही सर्वथा उचित है।

प्रश्न—क्या नायक में अवस्थान्तर का लाना उचित है ?

उत्तर—प्रधान नायक को छोड़कर उसके अनुकूल नायक तथा प्रतिनायकों में एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का होना अनुचित नहीं है। क्योंकि अनुकूल नायकों में प्रधान नायक की तरह महाराज-क्रम आदि की कोई खास व्यवस्था नहीं है।

किसी एक प्रबन्ध में प्रधान नायक राम आदि में पूर्व-कथित चार अवस्थाओं में से किसी एक को लेकर कुछ दूर चलने के बाद दूसरी अवस्था का ग्रहण अनुचित है। ग्रन्थकारों ने इस प्रकार का अनुचित निवेश वर्जित किया है। उदाहरणार्थ राम को धीरोदात्त नायक के रूप में ग्रहण करके भी बालि का छिपकर वध कराके उन्हें धीरोद्धत नायक के पद पर भी प्रतिष्ठित किया गया है। छिपकर वध करने से महा पराक्रम का अभाव व्यक्त हो जाता है और मात्सर्य की प्रधानता आ जाती है जोकि धीरोद्धत नायक का प्रधान गुण हुआ करता है।

आगे गुणातिरिक्त अवस्थाओं को ध्यान में रखकर नायक की दक्षिण आदि चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। इनमें एक के बाद दूसरी का आना अनुचित नहीं माना जाता क्योंकि ये अवस्थाएं प्रायः सापेक्ष रहती हैं। उदाहरणार्थ पहली नायिका की अपेक्षा दूसरी नायिका में नायक के चित्त के खिंच जाने से एक अवस्था का दूसरी के प्रति सापेक्ष होने से जिस अवस्था का ग्रहण किया गया उसको छोड़ भी दिया जाए तो कोई हर्ज नहीं है क्योंकि ये आपस में समानाधिकरण भाव सम्बन्ध रहने से एक-दूसरे की विरोधी नहीं हो सकतीं अतः इनमें कोई विरोध नहीं है।

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥६॥

पहली नायिका के रहते दूसरी नायिका के प्रति नायक के चित्त के खिंच जाने से उसकी दक्षिण, शठ, धृष्ट ये तीन अवस्थाएं होती हैं। इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं और आगे बताए जाने वाली एक अवस्था अनुकूल को लेकर कुल संख्या चार हो जाती है ॥६॥

नायक के चार भेद धीरललित धीरप्रशान्त धीरोदात्त धीरोद्धत

ये चार अवस्थाएँ बताई गई हैं। इनमें से प्रत्येक दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल इन भेदों से चार-चार प्रकार की होती है। इस प्रकार से नायकों की कुल संख्या १६ होती है।

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः

दक्षिणनायक—जो पहली अर्थात् जेठी नायिका से हृदय के साथ व्यवहार करे उसे दक्षिण कहते हैं।

जैसे मेरा ही पद्य—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) हे सखि, एक मेरा परिचित व्यक्ति है। वह प्रायः बड़े विश्वास के साथ मुझसे कहता है कि तेरे प्रियतम का प्रेम किसी दूसरी नायिका में आबद्ध हो गया है। पर उसकी बातों पर मुझे विश्वास नहीं होता, क्योंकि मैं देखती हूँ कि जब वह (मेरा पति) मुझे देखता है तो प्रसन्न हो जाता है। उसका मेरे प्रति प्रेम भी बढ़ता ही हुआ तथा प्रतिदिन की रतिक्रीडा में अपूर्व ही विलास के साथ मिला हुआ दीख पड़ता है। इन सब बातों में उसके विषय में सन्देह करने की कोई बात ही नहीं दीख पड़ती है।

अथवा जैसे दूसरा यह पद्य—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) "हे सखि, उचित तो मेरे लिए यही है कि मैं अपने प्रियतम से स्नेह का नाता तोड़ दूँ क्योंकि उसकी ऐसी अनेक करतूतें देख चुकी। यद्यपि रंगीले जी अपनी प्यारी प्रियतमा (अपने को जो कहती है) के सेवा सत्कार में कोई कसर नहीं उठा रखते हैं बल्कि पहले से (दूसरी नायिका के प्रेम-सूत्र में बँधने के पहले से) भी अधिक चाटुकारिता करते हैं पर तारीफ यह है कि वह केवल ऊपर से दिखलावा-मात्र ही रहता है।

गूढविप्रियकृच्छठः ।

शठनायक—छिपे रूप से जो दूसरी नायिका से प्रेम-व्यवहार चलाता है उसे शठ कहते हैं।

जैसे—(शठ) नायक जब अपनी पूर्व नायिका के साथ प्रेम-व्यापार में व्यग्र था तब तक मैं उसके पास से (अन्य नायिका की) करधनी की

नायिका की मनभावन घड़ी फिर क्या था—प्रणयविलास में प्रवृत्त उसकी भुजाओं का बन्धन ढीला हो गया। मुख-ग्रन्थि के शिथिल हो जाने से नायिका ताड़ गई कि हृदयेश दूसरे में आसक्त हैं, अतः अप्रसन्न हो बैठी। अब नायक का माथा ठनका और वे उसकी सखी के पास मनाने के लिए प्रार्थना करने लग गए। उसकी बातों को सुन सखी बोली—देखने में भी-मधु की तरह तथा परिणाम में विष का काम करने वाली चाटुकारितायुक्त बातों से क्या लाभ? तुम्हारे इस प्रकार के चिकने वचनों से मेरी सखी के सिर में चक्कर आने लगा है, अब तेरी इन बातों में किसी को तनिक भी विश्वास नहीं है।

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो

धृष्टनायक—जिस नायक के शरीर में विकार[1] स्पष्ट लक्षित होता है उसे धृष्ट कहते हैं। जैसे 'अमरुशतक' में—कोई नायक रात भर पर नायिका से रमण करने के बाद प्रातःकाल जब अपनी पहली नायिका के पास आया तो उस हरिणाक्षी ने नायक के ललाट में महावर, गले में मेखला के चिह्न, मुख पर काजल की कालिमा, नेत्रों में ताम्बूल की ललाई आदि चिह्नों को देख प्रदोष से उत्पन्न उच्छ्वासों को अपने श्वास के लीलाकमल के भीतर समाप्त कर दिया।

अब इन तीन भेदों को बताकर चौथा भेद बताते हैं—

अनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥७॥

अनुकूल नायक—केवल एक ही नायिका में जो आसक्त रहे उसे अनुकूल कहते हैं। जैसे 'उत्तररामचरित' में राम की उक्ति—जो सुख और दुःख में एक रूप है और सभी अवस्थाओं में अनुगत है जिसमें हृदय का विश्राम है जिसमें प्रीति बुढ़ापे से भी नहीं हटती और जो विवाह से लेकर मरण-पर्यन्त परिपक्व और उत्कृष्ट प्रेम में अवस्थित रहता है, दाम्पत्य का वह कल्याणमय प्रेम बड़े पुण्य से पाया जाता है ॥७॥

१ विकार—अन्य नायिका के साथ किए संभोग आदि के चिह्न।

प्रश्न—'रत्नावली' आदि नाटिकाओं में वर्णित वत्सराज आदि किस अवस्था के नायक हैं ?

उत्तर—पहले केवल एक ही नायिका के रहने से अनुकूल और बाद में दूसरी नायिका के आ जाने से दक्षिण अवस्था के हैं।

प्रश्न—पहली नायिका वासवदत्ता से छिपकर अन्य नायिका रत्ना वली के साथ *वत्सराज का प्रेम-व्यापार चलता है अतः* उस तथा रत्ना वली के प्रेम को जब वासवदत्ता स्पष्ट देख लेती है तो धृष्ट नायक को इन दोनों अवस्थाओं से मुक्त क्यों न माना जाए ?

उत्तर—प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त विप्रकारित्व के रहते हुए भी वत्स राज आदि का पहली नायिका वासवदत्ता आदि के साथ सहृदयता के साथ व्यवहार होता है अतः वे दक्षिण हैं।

प्रश्न—दक्षिण की दी हुई परिभाषा के अनुसार तो किसी का दक्षिण होना असम्भवप्राय है क्योंकि दी हुई परिभाषा के अनुसार नई नायिका के प्रेम में आसक्त रहते हुए भी पहली नायिका के साथ उसका बर्ताव पहले ही के समान होना चाहिए। पर ऐसा होना सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि दो नायिकाओं में समान प्रेम नहीं रह सकता ?

उत्तर—दो नायिकाओं में समान प्रीति हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है। महाकवियों के प्रबन्ध इस बात के साक्षी हैं—

( *कोई कञ्चुकी कह रहा है कि* ) जब मैंने महाराज से यह निवेदन किया कि महाराज कुन्तलेश्वर की दुहिता स्नान करके तैयार है आज अंग देश के राजा की लड़की की भी बारी है रानी कमला ने भी जुए में आज की रात को जीत लिया है इसके अलावा आज महारानी को भी प्रसन्न करना आवश्यक ही है ऐसी मेरी बातों को सुनकर महाराज दो-तीन घड़ी तक किंकर्तव्यविमूढ़ हो स्तब्ध-से रह गए।"

इसके अलावा आचार्य भरत ने भी कहा है—

"उत्तम नायक मधुर स्वभाव का तथा त्यागी होता है। किसी वस्तु में उसकी विशेष आसक्ति नहीं होती। वह काम के भी वशीभूत

नहीं होता और स्त्री द्वारा अपमानित होने पर उसकी प्रवृत्ति वैराग्य की तरफ हो जाती है।

आचार्य भरत मुनि के "किसी वस्तु में उसकी विशेष आसक्ति नहीं होती वह काम के भी वशीभूत नहीं होता" इत्यादि कथना से दक्षिण नायक का किसी एक नायिका में अधिक प्रेम होने का निषेध ही होता है अतः वत्सराज आदि का प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त दाक्षिण्य का ही प्रतिपादन होता है।

ऊपर नायक के १६ भेद बतला चुके हैं। फिर इनमें से प्रत्येक के ज्येष्ठ मध्यम और अधम ये तीन-तीन भेद होते हैं और इस प्रकार से नायक के कुल ४८ भेद हुए।

अब नायक के सहायकों को बतलाते हैं—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥८॥

प्रधान नायक की अपेक्षा पताका का नायक अन्य व्यक्ति होता है जिसको पीठमर्द कहते हैं। यह विचक्षण होता है और प्रधान नायक का अनुचर, उसका भक्त तथा उससे कुछ ही कम गुणवाला रहता है ॥ ८ ॥

पहले बताया जा चुका है कि प्रासंगिक कथा के पताका और प्रकरी दो भेद होते हैं। उसी बताए हुए पताका के नायक की संज्ञा पीठमर्द है। पीठमर्द प्रधान कथानायक का सहायक हुआ करता है, जैसे मालती माधव नामक प्रकरण में मकरन्द और रामायण में सुग्रीव। अब नायक के अन्य सहायकों को बताते हैं—

नायक के सहायक विट और विदूषक हुआ करते हैं। विट एक विद्या का पण्डित होता है। हँसाने वाले पात्र को विदूषक कहते हैं।

एकविद्यो विटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषकः ।

नायक के उपभोग में आनेवाली भोग आदि विद्याओं में से जो किसी

एक विद्या का ज्ञाता होता है उसे विट कहते हैं। नायक के हँसाने के प्रयत्न करने वाले को विदूषक कहते हैं।

यह अपनी आकृति और विकृति (विचित्र-विचित्र वेषभूषा बात चाल आदि) के द्वारा हँसाने का प्रयत्न करता है। 'नागानन्द' नाटिका मे शेखरक विट है। विदूषक के उदाहरण की कोई आवश्यकता नही है क्योंकि यह प्रायः हरेक रूपक मे आता है। अतः प्रसिद्ध है।

अब प्रतिनायक का लक्षण देते हैं—

लुब्धो धीरोद्धत स्तब्ध पापकृद्व्यसनी रिपु ॥९॥

प्रतिनायक—यह लुब्ध धीरोद्धत स्तब्ध पाप करनेवाला तथा व्यसनी और नायक का शत्रु हुआ करता है। उसका उदाहरण राम (नायक) का रावण और युधिष्ठिर (नायक) का दुर्योधन है ॥ ९ ॥

इसके बाद नायक के सात्त्विक गुणो को बताते हैं—

शोभा विलासो माधुर्य गाम्भीर्य धर्यतेजसी।

ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजा पौरुषा गुणा ॥१०॥

शोभा विलास माधुर्य गाम्भीर्य स्थैर्य तेज ललित औदार्य ये आठ नायक के सात्त्विक गुण हैं ॥ १० ॥

नीचे घृणाऽधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।

शोभा—नीच के प्रति घृणा अधिक गुणवाले के साथ स्पर्धा शौर्य शोभा शौर्य-दक्षता इनको शोभा कहते हैं।

नीच के प्रति घृणा जैसे 'महावीरचरित' मे—

"ताडका के मयकर उछल-कूद आदि उत्पातो के होने पर उसके मारने के लिए नियुक्त रामचन्द्र तनिक भी भयभीत न हो सके।

अधिक गुणवाले के साथ स्पर्धा का उदाहरण—

"हिमालय के उस प्रदेश मे जहाँ शिवजी और अर्जुन का युद्ध हुआ था मै महाराज के साथ गया और उनको बताया कि महाराज यह सामने दिखाई देनेवाली वही भूमि है जहाँ किरात वेषधारी भगवान्

मुद्रा के धारण करने के कारण ऐसा लगता है मानो साक्षात् वीर रस हो अथवा दर्प का मूर्तिमान रूप हो।

सलङ्क्ष्यो विकारो माधुर्यं सङ्क्षोभे सुमहत्यपि।

माधुर्य—महान् सङ्क्षोभ रहते हुए भी अर्थात् महान् विकार पैदा करने वाले कारणों के रहते भी मधुर विकार होने का नाम माधुर्य है।

'मर्यादापुरुषोत्तम राम हास्य किये हुए प्रसन्नतावश रोमाञ्चित अपने मुखकमल को हाथी के बच्चे के दाँत की शोभा को चुराने वाले सीता के स्वच्छ कपोलों में बार-बार देख रहे हैं। साथ ही राक्षसों की सेना की कलकल ध्वनि को सुनते हुए अपनी जटाओं की गाँठ को कस रहे हैं।

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥१२॥

गाम्भीर्य—जिसके प्रभाव से विकार लक्षित न हो सके उसे गाम्भीर्य कहते हैं ॥१२॥

माधुर्य और गाम्भीर्य में अन्तर यह है कि एक (माधुर्य) में मधुरता से युक्त विकार लक्षित होता है दूसरे (गाम्भीर्य) में बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। जैसे—आहूतस्याभिषेकाय इसका अर्थ पहले आ चुका है (पृ० १४७)।

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।

स्थैर्य या स्थिरता—विघ्न-समूहों के रहते हुए भी अपने कर्तव्य में अडिग बने रहने का नाम स्थैर्य या स्थिरता है।

जैसे 'महावीरचरित' में—प्रायश्चित्तं चरिष्यामि आदि।

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥१३॥

तेज—प्राण संकट के समुपस्थित रहते भी जो अपमान को न सह सके उसे तेज कहते हैं ॥१३॥

जैसे— इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं

जो तरजनी देखि मरि जाहीं।"

में रहने वाले भिन्न-भिन्न सामान्य गुणों को गिनाया है, क्रम से जहाँ तक हो सके उनका नायिका में रहना भी वाञ्छनीय है। विभाग करने पर नायिका तीन प्रकार की होती है—(१) स्वीया (अपनी) (२) परकीया (दूसरे की) (३) सामान्या (सर्वसाधारण की उपभोग्य) वेश्या आदि।

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

स्वीया—स्वीया (अपनी) नायिका के तीन भेद होते हैं—(१) मुग्धा (२) मध्या और (३) प्रगल्भा। शील और सरलता से युक्त रहनेवाली नायिका को स्वीया कहते हैं। शील से युक्त कहने का भाव यह है कि उसका चरित्र सुन्दर हो पतिव्रता हो कुटिला न हो तथा लज्जावती होने के साथ-साथ अपने पति के प्रसादन में निपुण हो।

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥ १५ ॥

शीलवती नायिका जैसे—'कुलबालिका के यौवन और लावण्य के विभ्रम और विलास को तो देखो जो प्रियतम के प्रवास के साथ ही चला जाता है और उनके आते ही आ जाता है" ॥१५॥

सरलता से युक्त नायिका का उदाहरण जैसे—

'जो बिना कुछ सोचे-समझे, सरल भाव से भोलापन लिये हुए हैं जिनके चाल-ढाल घूमना-फिरना उठना-बैठना बोलना-चालना आदि बिना किसी बनावट के स्वाभाविक होते हैं ऐसी स्त्रियाँ भाग्य वालों के ही घर में पाई जाती हैं।"

लज्जावती नायिका का उदाहरण जैसे—

'जिनकी लज्जा ही पर्याप्त प्रसाधन है जिनको दूसरे को प्रसन्न करने की ही प्यास लगी रहती है ऐसी सुन्दर कुलसम्पन्न स्त्रियाँ भाग्यवालों के घर में ही पाई जाती हैं।

स्वीया नायिका के भी मुग्धा मध्या और प्रगल्भा तीन भेद होते हैं।

मुग्धा नवयय:कामा रतौ वामा मृदु: क्रुधि ॥

मुग्धा का लक्षण—जिसके शरीर में तारुण्य का प्रवेश हो, काम का

संचार भी होने लगा हो, रतिकाल में भी जो प्रतिकूलता का आचरण करती हो, कदाचित् प्रकुपित हो, तो भी उसका कोप मिठास लिए ही हो। ऐसी नायिका को मुग्धा कहते हैं।

मुग्धा के भी कई भेद होते हैं—वयोमुग्धा, काममुग्धा, रतिवाम में प्रतिकूल आचारविनी, मृदुकोपना।

वयोमुग्धा का उदाहरण—

"इसका विस्तार को प्राप्त होनेवाला स्तनमण्डल जितना ऊँचा होना चाहिए अभी उस उच्चता को प्राप्त नहीं कर पाया है। त्रिवली की रेखाएँ यद्यपि उद्भासित हो गई हैं किन्तु उनके अन्दर अभी ऊँचाई-निचाई स्पष्ट नहीं हो पाई है। इसके मध्यभाग में विस्तृत भूरी रंग की रोमावली बन गई है। इस प्रकार से इसके सुन्दर अंग ने शैशव और यौवन का संघटित रूप प्राप्त कर लिया है।

अथवा जैसे मेरा यह पद्य—

'मध्यम-पर्यन्त रेखावाले तथा कुड्मल को कसके बांधे हुए नायिका के दोनों स्तन उच्छ्वसित होते हुए मानो कह रहे हैं कि मेरी वृद्धि के लिए सीना (छाती) अपर्याप्त है।

काममुग्धा का उदाहरण जैसे—

'उसकी दृष्टि अलसाई हुई रहती है। बालक्रीडा में अब उसे कोई आनन्द नहीं मिलता। सखियाँ जब कभी शृङ्गारिक बातें करना आरम्भ करती हैं तो उसे सुनने के लिए अपने कानों को वह सावधान कर लेती है। पहले वह बिना किसी हिचक के पुरुष की गोद में बैठ जाती थी पर अब ऐसा नहीं करती। इस प्रकार की नवीन चेष्टाओं आदि से यह बाला मानो नई जवानी में लिपटी जा रही है।

रतिकाल में अनुकूल आचरण न करनेवाली मुग्धा जैसे—

पार्वती इतनी लजाती थी कि शिवजी कुछ पूछते भी थे तो वे बोलती न थी, यदि वे उनका आँचल थाम लेते थे तो वे उठकर भागने लगती थी और साथ सोते समय भी वे मुँह फेरकर सोती थी। पर

स्त्रियों को इन बातों में भी कम आनन्द नहीं मिलता था।

मृदुकोपना—कुपित होने पर जो आसानी से प्रसन्न की जाए—"पति के किसी बुरे आचरण को देख बाला को पहले-पहल जब क्रोध आया तो किस प्रकार से क्रोध को व्यक्त किया जाता है इसको न जानने से वह अपनी मुखाब्ज को झुकाकर पति की गोद में आकर बैठ गई। इसके बाद उसके प्रियतम ने उसकी ठुड्डी को उठाकर फिर थोड़े ही, ऐसी अपनी रोती हुई प्रियतमा के अश्रु सिक्त ओष्ठों को भी चूमा।

इस प्रकार से लज्जा तथा अनुराग से भरे हुए मुग्धा नायिका के और भी व्यवहारों की कल्पना की जा सकती है। जैसे—"नायक और नायिका दोनों बैठे हुए हैं। सामने प्याले में पेय पदार्थ रखा है। नायक का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा है। लज्जावती नायिका प्रियतम के प्रतिबिम्ब को अनुराग के साथ देख रही है। नायक उस पेय पदार्थ में कुछ सुगन्धित पुष्प-रस आदि छोड़ना चाहता है, पर नायिका को भय है कि अगर इसमें कुछ छोड़ा गया तो प्रियतम के प्रतिबिम्ब के देखने में बाधा आ जाएगी। अतः उसको पुष्प-रस आदि का छोड़ा जाना भी असह्य है। अतः सात्विक भाव से रोमांचित वह न तो उस पेय पदार्थ को ही पीती है और न बरतन को ही हिलाती है। और तो और, वह अपनी निःश्वासों को भी दबाकर इसलिए छोड़ती है कि कहीं पात्र में तरंगों के आ जाने से प्रियतम के प्रतिबिम्ब-दर्शन में बाधा न आ जाए। बस वह टकटकी लगाकर प्रियतम के प्रतिबिम्ब को ही देख रही है।

## मध्या

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

जवानी की तथा कामनाओं से भरी हुई और मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त रति में समर्थ रहने वाली नायिका को मध्या कहते हैं ॥१६॥

इनमें यौवनवती का उदाहरण जैसे—"उसके भूविलास आदिकों

मे आलाप (बातचीत) में कमी आ रही है। मस्ती में भुजाओं को घुमा-कर उसका चलना बहुत ही चित्ताकर्षक होता है। उसके नितम्ब का मध्य भाग थोड़ा निम्न हो गया है, नीवी की गाँठ बढ़ती जा रही है, उसके पार्श्वों में विकास और सीने में कुचों का उठाव आ गया है। इस प्रकार मृगनयनी के यौवन की शोभा को देखने से ऐसा लगता है मानो कामदेव अपने धनुष के अग्रभाग से इसका स्पर्श कर रहा है।

कामवती मध्या का उदाहरण जैसे—

'कामदेव रूपी नई नदी के प्रवाह में बहते हुए वे दोनों (नायक और नायिका) जिनके मनोरथ अभी पूरे नहीं हो पाए हैं, गुरुजनरूपी सेतु से यद्यपि रोक लिए गए हैं, फिर भी चित्रित के समान एक-दूसरे पर आकृष्ट हुए नेत्र-रूपी कमल के डण्ठल से एक-दूसरे के रसरूपी जल का पान कर रहे हैं।

मध्या-प्रगल्भा का उदाहरण जैसे—

महिलाओं के विभ्रम विलास आदि रति के समय में तभी तक चलते रहते हैं जब तक नीलकमल के समान स्वच्छ आभा वाले उनके नेत्र बन्द नहीं हो जाते।

इसी प्रकार मध्या धीरा अधीरा धीरा अधीरा आदि अवस्थाओं को भी समझना चाहिए।

अब इनका नायक के साथ होने वाला व्यवहार को बताते हैं—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ १७ ॥

मध्याधीरा हास्ययुक्त वक्र उक्तियों से, मध्याधीराधीरा आँसुओं सहित वक्र उक्तियों से और मध्या अधीरा क्रोध के साथ कटुवचनों द्वारा अपने अपराधी प्रियतम को फटकारती है ॥१७॥

मध्या धीरा द्वारा हास्ययुक्त वक्र उक्तियों से नायक का फटकारा जाना—जहाँ अपराधी नायक अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करने के लिए आलिङ्गन करना चाहता है नायिका उसको अस्वीकार करती

हुई कहती है— 'इस दान के ग्रहण करने के योग्य हम लोग नहीं हैं (मर्थात् मैं नहीं हूँ) तुम उसे ही से जाकर इसे वो जो एकान्त में स्वयं अपने अधरों का पान कराती और तुम्हारे अधरों का पान किया करती है। धीराधीरा का आँसुओं के साथ वक्रोक्ति द्वारा नायक को खेद उत्पन्न करना—"प्रकुपित नायिका को नायक मना रहा है—कहता है 'हे बाले' उधर से उत्तर आता है 'नाथ'। फिर नायक कहता है—'हे मानिनी कोप छोड़ो' उधर से उत्तर आता है—'मैं कोप ही करके क्या कर लूँगी ? फिर नायक कहता है—'मेरा कोई अपराध नहीं है' उधर से उत्तर आता है—'तो आपसे कौन कहता है कि आपने अपराध किया है, सारे अपराध मेरे हैं। नायक पूछता है—'यदि ऐसी ही बात है तो फिर गद्गद् वाणी से रो क्यों रही हो ? उत्तर आता है—'मैं किसके सामने रो रही हूँ ? नायक बोलता है—'मेरे सामने रो रही हो। उत्तर आता है—'मैं आपकी कौन हूँ कि रोऊँगी ? नायक कहता है—'तुम मेरी प्रिय तमा हो। नायिका उत्तर देती है— मैं आपकी नहीं हूँ इसी से तो रो रही हूँ'।

आँसुओं के साथ अधीरा नायिका के कटु वचनों द्वारा नायक को फटकारना—

"हे सखि इसको जाने दो जाने दो रोकने की और आदर दिखाने की क्या आवश्यकता ? सौत के अधर से चमकित इस प्रियतम पापी को मैं देखना भी पसन्द नहीं करती।"

इसी प्रकार के मध्या के व्यवहार लज्जा से समावृत और स्वयं सुरत में प्रवृत्त न होने वाले होते हैं। जैसे—

'नायक के प्रति आन्तरिक अनुराग के कारण नायिका के शरीर में सात्विक भावों का संचार हो गया है उसके मुख पर पसीने की छोटी छोटी बूँदें झलकने लगी हैं। रोमांच हो आया है नायक के सिवा और किसी के वहाँ न रहने के कारण गुरुजन का भय भी दूर हो गया है, स्तनों पर कँपकँपी का ताँता भी बँधा हुआ है। मन में ऐसी प्रबल इच्छा

है कि नायक उसके केशों को पकड़कर जोरों के साथ चुम्बन-रूपी अमृत का पान कराए, पर इतना होते हुए भी नायक नायिका द्वारा स्वयं सुरत में प्रवृत्त नहीं कराया गया।

यहाँ पर नायिका ने स्वयं प्रारम्भ नहीं किया। इसी बारे में यह कहा गया है कि वह नायक द्वारा बलजोरी से केश खींचे जाते हुए कचा-क्षेप रूपी अमृतपान की मानो मुग्धा है। इस प्रकार से यहाँ उसका की प्रतीति होती है।

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

प्रगल्भा नायिका यौवन में अन्धी, रति में उन्मत्त, कामकलाओं में निपुण, रति के समय मानो नायक के अंगों में ही प्रविष्ट हो जाएगी, इस प्रकार की इच्छा वाली तथा सुरतारम्भ में ही आनन्दविभोर होकर बेहोश हो जाने वाली होती है। [इसके कई भेद होते हैं नीचे उनका उदाहरण दिया जाता है] ॥१८॥

गाढयौवना— 'अद्भुत युवावस्था वाली उस नायिका के छाती पर के स्तन ऊँचे उठ आए हैं, नेत्र बड़े हो गए हैं, भौंहें तिरछी हो गई हैं, वाणी का क्या कहना, उसमें तो और वक्रिमा [नाज नखरे आदि] आ गई है, कमर पतली तथा नितम्ब स्थूल हो गया है। गति भी मन्द हो गई है।

जैसे और भी— 'इस सर्वाङ्गसुन्दरी को देख कौन ऐसा पुरुष होगा जिसका चित्त विचलित न हो जाए, क्योंकि इसके स्तन-मण्डल बहुत ऊँचे हो गए हैं, कमर पतली हो गई है और जघन प्रदेश में स्थूलता आ गई है।

भावप्रगल्भा का उदाहरण—कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि जब मेरा प्रियतम मेरे पास आकर मधुर सम्भाषण करने लगता है अथवा इतना भी क्या कहें जो उसको सामने आते देखती हूँ इतने ही मात्र से मेरे सारे अंग मग्न हो जाते हैं अथवा काम इतना मुझे कुछ भी पता नहीं है।

साथ लिए जाने वाले आलिंगन में भी बाधा डाल दी। प्रियतम की सेवा के परिजनों को नियुक्त करने के बहाने उसने बातचीत करने में भी आनाकानी कर दी। इस प्रकार उस चतुर नायिका ने अपनी चतुराई से उपचार आदि के बहाने नायक के प्रति उत्पन्न कोप को कृतार्थ कर दिया।"

रति में उदासीन रहने वाली नायिका जैसे—नायक अपने मित्र से कह रहा है कि उसकी आज की चेष्टाओं से ऐसा लगता है मानो उसने मेरे सारे दोषों की जानकारी प्राप्त कर ली है क्योंकि—"रति के प्रसंग में वस्त्रों को उतारते समय पहले वह जमकर बैठती थी और केश ग्रहण के साथ काम में प्रवृत्त होने पर जब मैं उसके अधर को काटने की कोशिश करता था उस समय वह भौंहें टेढ़ी कर नाटक नहीं करती थी पर आज वह स्वयं अपने अधरों को सौंप रही है। पहले जब मैं हठात् आलिंगन में प्रवृत्त होता था तो वह उस समय प्रतिकूल ही आचरण करती थी पर आज तो वह स्वयं अपने अंगों को समर्पित कर रही है। पता नहीं इसने काम कला का यह नया रूप कहाँ से सीख लिया है।

इसके अलावा अधीरतावस्था कुपित होने पर भय उत्पन्न करने के साथ-साथ मारती भी है। जैसे अमरुशतक में—

प्रकुपित नायिका अपने कोमल चंचल बाहुरूपी लतिका के पाश में कसकर बाँधकर नायक को अपने केलिगृह से घसीटती हुई सखियों के सामने ले जाकर उसके दुर्व्यवहार-सूचक चिह्नों को दिखा-दिखाकर यह कहती हुई कि फिर तो ऐसा नहीं करोगे' रोती हुई मार रही है और नायक उन चिह्नों को ढकने का यत्न करता हुआ हँस रहा है। (कवि कहता है कि) इस भाग्यशाली व्यक्ति का जीवन धन्य है।

धीराधीरप्रगल्भा मध्या धीरा के समान ही सहास वक्रोक्ति के द्वारा नायक से बोलती है। जैसे—

अपने पैर पर गिरे हुए नायक से उसकी नायिका कहती है—देखा गया वह दिन था जब हम दोनों में से कोई किसी पर नाराज

होता तो भौंहों का चढ़ जाना ही कोप का सबसे बड़ा (परिणाम) होता मौन ही दण्ड होता आपस में एक-दूसरे को देखकर हँस देना ही अनुग्रह और दृष्टिपात ही प्रसन्नता का कारण होता था पर देखो न वह प्रेम आज इस दशा को पहुँच गया है कि तुम मेरे पैरों पर पड़े हो और मैं मान कर बैठी हूँ और तुम्हारी प्रार्थना पर भी मुझ अभागिनी का कोप शान्त नहीं हो रहा है।

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः।

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के प्रत्येक भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद होते हैं। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के कुल भेदों की सम्मिलित संख्या १२ होती है।

मुग्धा के यह भेद नहीं होते हैं वह एक ही रूप की रहती है।

ज्येष्ठा और कनिष्ठा का उदाहरण 'अमरुशतक' के एक ही श्लोक में मिल जाता है— 'एक आसन पर बैठी हुई अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देख क्रीड़ा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँख मूँद कर अपने कन्धे को जरा घुमाकर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका को प्रसन्नता से चूम रहा है।

नायिका के ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये भेद नायक के दाक्षिण्य और प्रेम इन दोनों के कारण ही नहीं होते अपितु केवल प्रेम के कारण भी होते हैं। दाक्षिण्य के कारण ज्येष्ठा कनिष्ठा व्यवहार नहीं होता है। जो नायक सहृदयता से ज्येष्ठा में आचरण करे वह दक्षिण कहलाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सहृदयता के साथ जिसके साथ व्यवहार होता है वह ज्येष्ठा है। इस बात को दक्षिण की परिभाषा देते समय स्पष्ट कर दिया गया है।

इस प्रकार से नायिका के (१) धीरमध्या (२) अधीरमध्या और (३) धीराधीरमध्या (४) धीरप्रगल्भा (५) अधीरप्रगल्भा और (६) धीराधीरप्रगल्भा ये ६ भेद हुए। फिर इनके ज्येष्ठा और

कनिष्ठा भेद करके कुल १२ भेद हुए।

रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता और रत्नावली का उदाहरण ज्येष्ठा-कनिष्ठा में है। इसी प्रकार महाकवियों के और प्रबन्धों में भी इस बात को समझ लेना चाहिए।

## परकीया नायिका

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ॥ २ ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

परकीया नायिका के दो भेद होते हैं—(१) कन्या और (२) विवाहिता। विवाहिता को ऊढा तथा कन्या को अनूढा कहते हैं। प्रधान रस के वर्णन में ऊढा नायिका का प्रेम प्रदर्शन कहीं भी ठीक नहीं है। हाँ कन्या के अनुराग का प्रदर्शन प्रधान और अप्रधान दोनों रसों में हो सकता है॥ २ ॥

दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली ऊढा का वर्णन—नायिका अपनी पड़ोसिन से कह रही है— हे बहन थोड़ी देर के लिए जरा मेरे घर का भी ख्याल रखना क्योंकि मेरे इस बच्चे का पिता अर्थात् मेरा पति इस कुएँ के स्वादरहित जल को प्रायः नहीं पीता है। देखो बहन यद्यपि मैं एकाकिनी हूँ और जिस तालाब का पानी लेने जा रही हूँ वहाँ तमाल के इतने घने वृक्ष हैं कि दिन में भी अन्धकार का साम्राज्य रहता है। और भी दिक्कत यह है कि वहाँ नरकट के ऐसे पुराने-पुराने डण्ठल लगे हुए हैं जिनमें नीली गाँठ पड़ गई हैं। अतः उसके भीतर से पानी निकालना [illegible] नहीं है और मुझे तो जाना ही है चाहे जिन जिन मुसीबतों का सामना करना पड़े।

इस प्रकार की ऊढा को प्रधान अङ्गी रस का विषय कभी भी नहीं रखना चाहिए। इस बात का केवल संकेत सा बताया गया है। कन्या यद्यपि अविवाहित रहती है फिर भी पिता माता आदि के अधीन रहने

के कारण परकीया नहीं मानी है। कन्या पिता आदि के वशीभूत होने से असम्य ही रहती है फिर भी उसके माता-पिता आदि तथा अपनी स्त्री से छिपकर ही नायक उसके साथ प्रेम-व्यापार में प्रवृत्त होता है।[1] जैसे 'मालतीमाधव' में माधव का मालती से तथा 'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज का रत्नावली (सागरिका) से प्रेम करना।

कन्या के अनुराग को प्रधान अप्रधान दोनों रसों में बिना किसी रोक-टोक के स्वेच्छया वर्णन करना चाहिए। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में रत्नावली तथा 'नागानन्द' नाटिका में मलयवती का अनुराग-वर्णन।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

सामान्य नायिका—वणिका को सामान्य नायिका कहते हैं। यह कला प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है ॥२१॥

इसके व्यवहार का अन्य शास्त्रों में विस्तृत वर्णन है। मैं केवल उसे संक्षेप में बता रहा हूँ—

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।

रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ॥ २२ ॥

यह (गणिका) केवल धन से प्रेम करती है। छिपकर प्रेम करने वाले जैसे पण्डित बनिया ब्रह्मचारी आदि और आसामी से धन कमाने वाले मूर्ख उच्छृंखल पाखण्डी नपुंसक इन लोगों से यह ऐसे हाव भाव आदि से प्रेम प्रदर्शन करती है मानो यह वास्तव में अनुरक्त हो और तब तक यह अपना प्रेम-व्यापार चलाती है जब तक इनके पास पैसा रहता है। धन ग्रहण करते-करते जब उनके पास कुछ भी नहीं रह जाता तब यह उनका अपमान करके घर से अपनी माता के द्वारा

1 'मालती माधव' प्रकरण का नायक माधव अविवाहित है अतः उसके लिए अपनी स्त्री से छिपकर प्रेम-व्यापार चलाने की बात ही नहीं उठती। 'रत्नावली' नाटिका के नायक में यह बात अवश्य घटित होती है

निकलवा देती है।

यह उसके स्वाभाविक रूप का कथन है ॥२२॥

किन्तु प्रहसन को छोड़कर अन्य रूपकों में खास करके प्रकरण में वेश्या के वास्तविक प्रेम का ही वर्णन रहता है।

जैसे 'मृच्छकटिक' प्रकरण में वसन्तसेना और चारुदत्त का प्रेम।

रक्तैव त्वप्रहसने नैषा दिव्यनृपाश्रये।

प्रहसन में नायिका (वेश्या) यदि नायक में अनुरक्त न हो तो भी उसके प्रेम-व्यापार को दिखा सकते हैं क्योंकि प्रहसन की रचना और उसका अभिनय हास्य के लिए ही होता है। पर नाटकों में जहाँ देवता राजा आदि नायक हों वहाँ पर गणिका को नायिका रूप में कदापि नहीं रखना चाहिए।

अब नायिका के अन्य भेदों को बताते हैं—

आसामष्टावस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

इनकी स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएँ होती हैं—

१ स्वाधीनपतिका २ वासकसज्जा, ३ विरहोत्कण्ठिता ४ खण्डिता, ५ कलहान्तरिता, ६ विप्रलब्धा ७ प्रोषितपतिका और ८ अभिसारिका ॥२३॥

ये आठ स्वीया परकीया और सामान्या नायिका की अवस्थाएँ व्यवहार और दशा भेद के अनुसार होती हैं। पहले बताये हुए सोलह प्रकार के भेदों को बताकर फिर नायिका की आठ अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उन-उन अवस्थाओं से युक्त नायिकाएँ इन-इन अवस्थाओं के धर्म से भी युक्त हुआ करती हैं। अवस्था भेद बताने के समय किसी को उनके अधिक न्यून होने के सम्बन्ध में भ्रम न हो जाए अतः स्पष्टीकरणार्थ आठ लिख दिया।

नायिका की ये आठों अवस्थाएँ एक-दूसरे से भिन्न हुआ करती हैं। इनका आपस में किसी के भीतर किसी का अन्तर्भाव नहीं हो सकता

है। वासकसज्जा आदि को स्वाधीनपतिका के भीतर नहीं रख सकते क्योंकि स्वाधीनपतिका का पति तो पास में रहता है और वासकसज्जा का पास नहीं रहता।

जिस नायिका का पति घर आने वाला हो (वासकसज्जा) उसे यदि स्वाधीनपतिका मान लो तो प्रोषितप्रिया को भी स्वाधीनपतिका ही मानना पड़ जाएगा।

अपने पति के किसी भी प्रकार के अपराध के न जानने के कारण उसे खण्डिता भी नहीं कह सकते। रति और भोग की इच्छा से प्रवृत्त रहने के कारण उसे प्रोषितप्रिया भी नहीं कह सकते।

जो नायिका कामार्त हो पति के पास जाए अथवा उसे अपने पास बुलाए, उसे अभिसारिका कहते हैं। इन दोनों के अभाव में वह अभिसारिका भी नहीं है। इस प्रकार वे विरहोत्कण्ठिता आदि से भिन्न है। पति के आने का समय बीत जाने से वह वासकसज्जा नहीं है। विप्रलब्धा भी वासकसज्जा आदि से भिन्न ही है। विप्रलब्धा का पति आने की प्रतिज्ञा करके भी नहीं आता इससे वह वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता से पृथक् ही हुई। कलहान्तरिता का भी यद्यपि अपने प्रियतम के अपराध की जानकारी रहती है फिर भी वह खण्डिता से भिन्न ही है। क्योंकि कलहान्तरिता अपने द्वारा की गई प्रियतम की अवहेलना के बाद में स्वयं दुःखी होना समझती है जो बात खण्डिता में नहीं पाई जाती। इस प्रकार से ये आठ नायिकाओं की अवस्थाएँ स्वतन्त्र हैं।

आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।

१ स्वाधीनपतिका—जिस नायिका का पति पास रहता है और जो अपनी इच्छा के अनुरूप रमण करती है तथा जो सदा प्रसन्न रहा करती है उसे स्वाधीनपतिका कहते हैं।

जैसे— [illegible] प्रिय ने उनके कपोल पर सुडौल पुष्पमञ्जरी अङ्कित कर दी थी। वह अपने [illegible] विलासमय [illegible] साथ लिए रही थी

कि दूसरी से कहा कि हे सखि तू प्रिय की अपने-हाथों-अंकित मंजरी को इस प्रकार दिखाती हुई गर्व कर रही है यह उचित नहीं है दूसरी कोई भी इस प्रकार न सौभाग्य का पात्र बन सकती थी यदि हाथ की कँपकँपी बीच में ही विघ्न न कर देती।

**मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४ ॥**

२ वासकसज्जा—उस नायिका को वासकसज्जा कहते हैं जो प्रसन्नता के साथ सब शृंगारों से सजकर प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है ॥ २४ ॥

जैसे—माघ का यह पद्य—

'कोई रमणी हस्तपल्लव के आघात से मुखकमल की वायु को रोककर नाक के छिद्रों की ओर से उठने वाली मुख-सुगन्ध की परीक्षा कर प्रसन्न होने लगी।

**चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मना ।**

विरहोत्कण्ठिता—विरहोत्कण्ठिता नायिका उसे कहते हैं जिसका पति निश्चित समय पर नहीं आता। इसे अपने प्रिय का कोई अपराध मालूम नहीं रहता। प्रिय के विरह में उससे मिलने के लिए इसका चित्त उत्कंठित रहता है।

जैसे—(कोई नायिका अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में रही पर उसका पति समय से न आ सका। ऐसी हालत में वह अपने मन को या अपनी सखी से कह रही है—) हे सखि वे अभी तक न आ सके। मुझे तो ऐसी आशंका हो रही है कि वे निश्चय ही वीणा-वाद्य के द्वारा किसी रमणी से एक रात के लिए जीत लिए गए हैं और वहीं उसके साथ यह सुन्दर रात बिता रहे हैं नहीं तो भला यह कैसे हो सकता है जो ऐसी सुन्दर रात्रि में जबकि आकाश में सुन्दर चाँदनी छिटकी हुई है और राजनिशा के पुष्प नीचे बिखर रहे हैं वे न आएँ।

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २५ ॥

खण्डिता—उसे कहते हैं जो पति के शरीर में अन्य स्त्री के साथ किए गए संभोग के चिह्नों को देखकर जल उठे ॥ २५ ॥

जैसे—"कोई नायिका अपने पति के शरीर में परस्त्रीकृत संभोग चिह्नों को देखकर उससे कहती है—अन्य स्त्री के द्वारा किए हुए ताजे नखक्षत को तो कपड़े से ढककर छिपा रहे हो उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी तुमने हाथों से ढक लिया है पर यह तो बताओ कि परस्त्री के संभोग को व्यक्त करने वाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द गिर्द फैल रहा है उसको कैसे रोक सकोगे ?

कलहान्तरितामर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

कलहान्तरिता—उसे कहते हैं जो प्रियतम को क्षमा-याचना करते समय फटकार बैठे और बाद में अपनी करतूत पर पश्चात्ताप करे।

जैसे कोई नायिका सोच रही है—पता नहीं सखियों ने मान में कौनसा ऐसा गुण देखा था जो मुझे करने को कहा और मैं भी हत भागिनी उसे कर बैठी। अब क्या करूं ? प्रियतम ने आकर मुझे मनाया और जब मैं नहीं मानी बल्कि उलटे उसका तिरस्कार कर बैठी तो वह दुखी होकर चला गया। अब उसके वियोग में मेरी यह हालत है कि निरन्तर मुँह को जला रहा है हृदय को मथ रहा है निद्रा का नहीं रही है रात-दिन रो रही हूँ मन सूना रहा है। न मालूम उस समय मुझे क्या हो गया था जो मैं सखियों की बातों में आकर पैरों पड़े हुए प्रियतम की उपेक्षा कर बैठी।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥ २६ ॥

विप्रलब्धा—उसे कहते हैं जिसका प्रियतम बताए हुए समय पर न आए। न आने के कारण उसे अपमान भी मालूम होता है अतः वह विमानिता या अपमानिता होती है ॥ २६ ॥

जैसे—कोई अपनी दूती से कह रही है— दूती उठ, अब मैं जा

मणिनूपुर सुशोभित हो रहे हैं। अत तेरे इस भालपुरत देखने और सपक्षित चलने आदि से क्या लाभ ?

जैसे और भी—'कोई नायिका प्रियतम के अभिसरण कराने (बुलाने) के लिए दूती को भेज रही है और उससे कह रही है कि हे दूती उसके पास जाकर इस प्रकार से चतुराई के साथ मेरा संदेश कहना ताकि मेरी लघुता भी व्यक्त न होने पाए, साथ ही उसके मन मे मेरे प्रति करुणा भी उत्पन्न हो जाए।

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।

युक्ता षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षिते ॥ २८ ॥

इन उपर्युक्त आठ अवस्थाओं वाली नायिकाओं में शुरू की दो अर्थात् स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा सदा प्रसन्न रहती हैं तथा शृंगारिक क्रीड़ा आदि में लगी रहती हैं। ये इनको छोड़ शेष छ चिन्ता निश्वास खेद अश्रु, ग्लानि वैवर्ण्य आभूषणाभाव आदि से युक्त होती हैं ॥ २८ ॥

परकीया नायिका की वह चाहे ऊढा या अनूढा इन अवस्थाओं में से केवल तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। शेष पाँच अवस्थाएँ इनकी नहीं होती क्योंकि ये पराधीन होती हैं। परकीया नायिका संकेत स्थान पर चलने के पहले विरहोत्कण्ठिता रहती है और बाद मे विदूषक आदि के साथ अभिसरण करने से अभिसारिका तथा संकेतस्थल में दैवात् प्रियतम से यदि भेंट न हो सकी तो विप्रलब्धा हो जाती है। 'माल विकाग्निमित्र' नाटक मे रानी के सामने राजा की परवशता देख माल विका कहती है—'हाँ आज तो नहीं डर रहे हैं इन महाराज का साहस उस दिन देवी इरावतीजी के आने पर मैं भली भाँति देख चुकी हूँ।

यह सुनकर राजा कहते हैं – हे बिम्ब के समान लाल-लाल होंठों वाली! प्रेमी लोग या दिखाने के लिए नम्रता से प्रेम करते हैं। पर है

बड़ी-बड़ी आँखों वाली ! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पाने की आशा पर अटके हुए हैं। खण्डिता नायिका का पति जैसी अनुनय-विनय करता है वह बात यहाँ नहीं पाई जाती। यहाँ पर राजा का मालविका से इस प्रकार कहने का उद्देश्य है कि मालविका अपनी अधीरता के कारण राजा को हर तरह से रानी के अधीन समझ निराश न हो जाए, वह उसके अन्दर विश्वास पैदा करता है।

मालविका परकीया नायिका है, अतः वह खण्डिता नहीं हो सकती, क्योंकि परकीया के सम्बन्ध में स्वकीया खण्डिता होती है, ऐसा नियम है। स्वकीया के सम्बन्ध से परकीया खण्डिता नहीं होती। यहाँ तो यह दक्षिण नायक है जिसका पहली नायिका के साथ सहृदयतापूर्वक व्यवहार करना उचित ही है।

इसी प्रकार प्रियतम के परदेश में होने पर भी परकीया प्रोषितपतिका नहीं होती। समागम से पूर्व देश का व्यवधान परकीया और नायक के बीच रहा ही करता है। इसलिए वह मिलने के लिए उत्सुक विरहोत्कण्ठिता मात्र हो सकती है।

नायिका के कार्यों में सहायता पहुँचाने वाली दूतियाँ—

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका ।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥ २९ ॥

दासी सखी धोबिन घर में काम-काज करने वाली नौकरानियाँ, पड़ोसिन भिक्षुणी चित्र आदि बनाने वाली स्त्रियाँ आदि जो नायक के अन्तरङ्ग मित्रों के समान गुणवाली होती हैं नायिका की दूतियाँ होती हैं ॥ २९ ॥

नायिका अपनी कार्य-सिद्धि के लिए स्वयं भी दूती बन जाती है। नायक के सहायक पीठमर्द आदि में जो गुण होते हैं उन्हें दूतियों में अवश्य भी रहना चाहिए। जैसे 'मालतीमाधव' प्रकरण में—

"इसे शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान है, ज्ञान से ही मनुष्य सहज धीर है, बुधा में प्रगल्भता प्राप्त उसकी वाणी है। समय की पहचान प्रतिभा

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥३१॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा ॥३२॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।
निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३॥

इनमें भाव, हाव और हेला, ये तीन अंगों से उत्पन्न होते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य ये सात भाव बिना यत्न के ही पैदा होते हैं, इसीलिए इनको अयत्नज कहते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत — ये दस भाव स्वभावज अर्थात् स्वभाव से पैदा होते हैं ॥ ३०–३३ ॥

नीचे इनके बारे में बताया जाता है—

भाव—जन्म से विकार-रहित मन में विकार के उत्पन्न होने को भाव कहते हैं।

विकार की सामग्री रहते हुए भी विकार का न पैदा होना सत्त्व (भाव) कहलाता है, जैसे—"ऐसे बीच अप्सराओं ने गायन-नृत्य प्रारम्भ कर दिया पर महादेवजी टस-से-मस न हुए, अपने ध्यान में ही लगे रह गए, क्योंकि जो लोग अपने मन को वश में कर लेते हैं उनकी समाधि क्या भला कोई छुड़ा सकता है! इस प्रकार के विकार-रहित मन में पहले-पहल विकार के पैदा होने से उसका नाम भाव है। मिट्टी और जल के संयोग से बीज के अंकुरित होने की पहले बीज की जो दशा होती है वैसी ही मन की दशा का नाम विकार है। इस प्रकार सर्वप्रथम मन में आए हुए विकार का नाम भाव है—जैसे 'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति' (पृ. १६२ पर इसका अर्थ लिखा जा चुका है।) अथवा जैसे 'कुमारसम्भव' में—"कामदेव ने पार्वतीजी को पूजा करते देख

जैसे—"शृंगार करने वाली सुहागिन स्त्रियों ने पार्वतीजी को स्नान आदि कराके कोहबर में ले जाकर पूरब की ओर मुंह करके बिठा दिया। शृंगार की सब वस्तुएं पास में होने पर भी वे सब पार्वतीजी की स्वाभाविक शोभा पर ही इतनी लट्टू हो गईं कि कुछ देर तक तो वे सुधबुध भूलकर उनकी ओर एकटक निहारती हुई बैठी रह गईं।' इत्यादि और जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

महाराज दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में कह रहे हैं—

मेरी दृष्टि में शकुन्तला का रूप वैसा ही पवित्र है जैसा बिना सूंघा फूल, नखों से बिना काटे हुए पत्ते, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु, तथा बिना भोगा हुआ अखण्ड पुण्यों का फल। पर पता नहीं इस रूप के उपभोग करने के लिए ब्रह्मा ने किसे बनाया है।"

मन्मथाप्लावितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥१५॥

कान्ति—काम के विकार से बढ़ी हुई शरीर की शोभा को कान्ति कहते हैं ॥ १५ ॥

(शोभा ही जब प्रेमाधिक्य से बढ़ जाती है तो उसे कान्ति कहते हैं।) जैसे नायिका के मञ्जु मुख के अभिलाषी अन्धकार ने जब उसके मुख के पास जाने की इच्छा की तो वहां से उसे नायिका के मुखचन्द्र की किरणों ने निकाल भगाया। उसके बाद जब वह उसके स्थूल कुचों के पास तथा हाथों के पास डेरा डालने के लिए गया तो वहां पर भी कुच और हाथों की कान्ति द्वारा दुत्कारा गया। इस प्रकार हर जगह से तिरस्कृत वह अन्धकार ऐसा लगता है मानो प्रकुपित हो केशों पर ही जाकर चिपक गया हो।

इसी प्रकार कान्ति का उदाहरण बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का महाश्वेता वृत्तान्त भी है।

अनुल्बणत्वं माधुर्यं

माधुर्य—जिस गुण के रहने से नायिका हरेक अवस्था में रमणीय मालूम होती है उसे माधुर्य कहते हैं।

जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"सिवार से घिरे रहने पर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पड़ा हुआ कलङ्क भी उसकी शोभा को बढ़ाता है वैसे ही यह रमणी वल्कल पहने हुए भी बड़ी सुन्दर लग रही है। वस्तुतः बात यह है कि सुन्दर शरीर पर हरेक वस्तु सुन्दर लगती है।"

दीप्तिः कान्तिस्तु विस्तरः ।

दीप्ति—अत्यन्त विस्तार पाने पर कान्ति ही दीप्ति कहलाती है।

जैसे— 'प्रार्थना करती हूँ अरी अपनी मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार को दूर भगाने वाली ! प्रसन्न हो जाओ मेरी बात मानकर अब आगे मत बढ़ो। हे हताशिनी तू अन्य अभिसारिकाओं को विघ्न पहुँचा रही है।

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यं

प्रागल्भ्य—साध्वस के अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं।

(अर्थात्) मानसिक क्षोभ के साथ अंगों में अवसाद होने का नाम साध्वस है और उसके अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं। जैसे मेरा ही पद—

'यह देखने में तो बड़ी लजीली और भोली मालूम पड़ती है पर सभा के अन्दर बसी ये प्रयाणों के पाण्डित्य में तो उसने आचार्य का स्थान प्राप्त कर लिया है।

औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥३६॥

औदार्य—सदा प्रेम के अनुकूल व्यवहार करने का नाम औदार्य है ॥ ३६ ॥

चापलाद्यविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

धैर्य—आत्मश्लाघा और चापल्य-रहित मन की वृत्ति को धैर्य कहते हैं।

जैसे 'मालतीमाधव' में निम्नलिखित पद्य में मालती की उक्ति है—

आरुस्मरचमत्कारणापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥३८॥

अर्थात् कान्ति जिससे अधिक चमत्कृत हो उठती है उसको विच्छित्ति कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में— 'पार्वतीजी के कानो पर लटके हुए जौ के अकुर तथा लोध से पुते तथा गोरोचना लगे हुए गोरे-गोरे गाल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबकी आँखें हठात् उनकी ओर खिंच जाती थी।

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

विभ्रम—शीघ्रतावश आभूषणों को जहाँ पहनना चाहिए वहाँ न पहनकर अन्यत्र पहन लेना इस प्रकार के आचरण को विभ्रम कहते हैं।

जैसे— रात हो आई चन्द्रमा निकल आया यह देख नायिका ने शीघ्रतावश प्रिय से मिलन के लिए आभूषणों को पहनना आरम्भ कर दिया। इधर यह गहना पहन रही थी और उधर इसकी सखियाँ इसके प्रिय की दूती से बातचीत करने म लगी थी सो प्रिय की बातों को सुनने के लिए इसने भी अपने मन और आँखों को उधर ही लगा दिया निदान जो आभूषण जहाँ पहनना चाहिए था उसे वहाँ न पहनकर अन्यत्र ही पहन बैठी यह देख उसकी सखियाँ हँस पडी।"

अथवा जैसा मेरा (धनिक का) ही पद्य— 'नायिका आभूषणो से अपने अगो को सजा ही रही थी कि इतने मे उसने सुना कि उसका प्रिय घर बाहर आ गया है। बस क्या था शीघ्र ही सज-धजकर तैयार हो गई। इस पर जल्दी करने का परिणाम यह निकला कि उसने भाल मे अजन आँखो मे महावर और कपोलो पर तिलक कर लिया।

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चितम् ॥३९॥

किलकिञ्चित—उस अवस्था को कहते हैं जिसमें नायक के सम्पर्क से नायिका के अन्दर क्रोध अश्रु, हर्ष भय ये चारों मिले हुए पैदा होते हैं।३९।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

नायक अपने मित्र से कहता है—"रतिक्रीडा रूपी द्यूत म मैंने जिसी

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

ललित—कोमल अंगों को सुकुमारता के साथ रखने का नाम ललित है ॥४१॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

'उसका भौंहों को नचाकर विलासमय मधुर अँगुलियों का इधर उधर घुमाकर बोलना और लोचन के प्रान्त से अति मधुर देखना तथा स्वच्छन्दता से साथ जाते हुए कमलवत् चरणों का रखना आदि देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह कमलनयनी चढ़ती हुई जवानी के द्वारा बिना संगीत के ही नचाई जा रही है।

प्राप्तकालं न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत् ।

विहृत—उपयुक्त अवसर के आने पर भी लज्जा के कारण न बोल सकने का नाम विहृत है।

जैसे—

"पल्लव सदृश कान्तिवाले पैर के अँगूठे से धरती को खोदती हुई और उसी बहाने कालिमा से चित्रित अपने चंचल नेत्रों को मेरे ऊपर फेंकती हुई, लज्जा से नम्र मुखवाली तथा बोलने की चाह से फड़कते हुए अधरोंवाली प्रियतमा सामने खड़ी होते हुए भी लज्जा के कारण जो-कुछ न बोल सकी ये सब बातें स्मृति-पथ में आते ही हृदय को कुरेदने लगती हैं।"

इसके बाद नेता के अन्य कार्य-सहायकों को बताते हैं—

मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२॥

अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्र की देखभाल आदि कामों में राजा के सहायक मन्त्री हुआ करते हैं। कहीं राजा स्वयं अकेले कार्यभार वहन करता है। कहीं राजा और मन्त्री दोनों तथा कहीं मन्त्री ही ॥४२॥

मन्त्रिणा ललिताः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः ।

ऊपर बताये हुए नायकों में से धीरललित नायक अर्थसिद्धि के लिए

मन्त्रियों पर अवलम्बित रहा करता है। अन्य नायकों (धीरोदात्त और शान्त और धीरोद्धत) में कहीं राजा कहीं मन्त्री और कहीं दोनों कार्य भार को वहन करते हैं।

इनके लिए (धीरोदात्त धीरशान्त धीरोद्धत के लिए) कोई खास नियम नहीं है कि अमुक नायक का सहायक मन्त्री हो अथवा स्वयं हो अथवा आप भी हो और मन्त्री भी।

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

राजा के धार्मिक कार्यों में सहायता पहुँचाने वाले ऋत्विक्, पुरोहित तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हुआ करते हैं।

वेद के पठन-पाठन करनेवाले और उनके व्याख्याता को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। पुरोहित आदि के अर्थ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके अर्थ तो स्पष्ट ही हैं।

दुष्टों के दमन करने को दण्ड कहते हैं।

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

राजा के दण्डकार्यों में सहायता पहुँचानेवाले मित्र कुमार आटविक (सीमारक्षक) सामन्त और सैनिक होते हैं।

ये प्रत्येक अपने-अपने अनुरूप कार्यों में लगाए जाते हैं अर्थात् जो जिस कार्य के योग्य होता है वह उस कार्य में राजा की सहायता पहुँचाया करता है। जैसा कहा भी है—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः।

अन्तःपुर में क्लीव (नपुंसक) किरात गूंगा बौना म्लेच्छ, अहीर शकार के सब सेवा करने के लिए रहते हैं। इनमें जो जिस कार्य के उपयुक्त होता है उसे वह काम करने को दिया जाता है ॥४४॥

शकार राजा का साला हुआ करता है। वह निम्न जाति का हुआ करता है। (यह राजा के निम्नजातिवाली पत्नी का भाई होता है।)

है। और जब तुम्हारा वर्णन प्रारम्भ हो जाता है तो फिर क्या कहना? इस चौड़ी पीठ और मोटे स्तनों वाली के अंग प्रत्यंगों में मरोड़ पैदा हो जाती है जंभाई आने लगती है और भुजाएँ वलयित हो जाती हैं। (दोनों हाथों के द्वारा अपने सीने को कसना यहाँ वलयित शब्द से अभिप्रेत है।)

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत् केशाधरग्रहे ॥४०॥

कुट्टमित—सम्भोग में प्रवृत्त होते समय केशग्रहण और अधरपान के कारण भीतर से प्रसन्न होते हुए भी ऊपर से नायिकाओं द्वारा जो कोप का प्रदर्शन होता है उसे कुट्टमित कहते हैं॥४ ॥

जैसे—

'हाथों के अग्रभाग अर्थात् अँगुलियों से रोके जाते रहने पर भी प्रियतम के द्वारा ओठों के काट लिए जाने से मूठमूठ का रुदन और सीत्कार करने वाली नायिकाओं की जय होवे जिनका इस प्रकार का सीत्कार रतिरूपी नाटक के विभ्रम का नान्दी पाठ है अथवा कामदेव का महत्त्वपूर्ण आदेश है।"

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया।

बिब्बोक—गर्व और अभिमान से इच्छित वस्तु के अनादर करने को बिब्बोक कहते हैं।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

मैंने भौंहों को तानकर अनादर के साथ प्रियतम को जो देखा और इस प्रकार से जो उसकी अवहेलना कर दी इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा भी मनोरथ चरितार्थ न हो सका। अरी मैंने भी तो हद कर डाली। केवल भौंहों का तरेरना ही किया होता सो भी नहीं। मैंने बहाने से क्रोध के आवेश में तिलक और बेंदी को हाथों से बिखेर दिया और मानावेश में अनेक बार अपनी नीली साड़ी के आँचल को स्तनों पर से उठाया और रखा।"

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

ललित—कोमल अंगों को सुकुमारता के साथ रखने का नाम ललित है ।४१।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

उसका भौंहों को नचाकर विलासमय सहज अंगुलियों को इधर उधर घुमाकर नाचना और लोचन के प्रान्तों से अति मधुर देखना तथा स्वच्छन्दता से साथ आगे हुए कमलवत् चरणों का रखना आदि देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कमलनयनी चलती हुई जवानी के द्वारा बिना सिखाये ही नचाई जा रही है ।

प्राप्तकाल न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत् ।

विहृत—उपयुक्त अवसर के पाने पर भी लज्जा के कारण न बोल सकने का नाम विहृत है ।

जैसे—

पल्लव सदृश कान्तिवाले पैर के अँगूठे से धरती को खोदती हुई और [illegible] की सभा में निश्चल नयन नेत्रों को मेरे ऊपर फेंकती हुई लज्जा से नम्र मुसकाती तथा आनन की बाहु से ढकते हुए मधुर वाणी वाली प्रियतमा सामने खड़ी होते हुए भी लज्जा के कारण जो कुछ न बोल सकी यह सब बातें स्मृति पथ में आते ही हृदय को दुःखद लगती है ।

इसके बाद नेता के अन्य कार्य-सहायकों का बताते हैं—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२॥

अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्र की देखभाल आदि मामलों में राजा के सहायक मन्त्री हुआ करते हैं । कहीं राजा स्वयं अकेले कार्यभार वहन करता है । कहीं राजा और मन्त्री दोनों तथा कहीं मन्त्री ही ॥४२॥

मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः ।

ऊपर बताये हुए नायकों में से धीरललित नायक सर्वसिद्धि के लिए

मन्त्रियों पर अवलम्बित रहा करता है। अन्य नायकों (धीरोदात्त और प्रशान्त और धीरोद्धत) में कहीं राजा कहीं मन्त्री और कहीं दोनों कार्य भार को वहन करते हैं।

इनके लिए (धीरोदात्त धीरप्रशान्त धीरोद्धत के लिए) कोई खास नियम नहीं है कि अमुक नायक का सहायक मन्त्री हो अथवा स्वयं हो अथवा आप भी हो और मन्त्री भी।

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

राजा के धार्मिक कार्यों में सहायता पहुँचाने वाले ऋत्विक् पुरोहित तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हुआ करते हैं।

वेद के पठन-पाठन करनेवाले और उसके व्याख्याता को ब्रह्मवादी कहते हैं। पुरोहित आदि के अर्थ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके अर्थ तो स्पष्ट ही हैं।

दुष्टों के दमन करने को दण्ड कहते हैं।

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः ।

राजा के दण्डकार्यों में सहायता पहुँचानेवाले मित्र कुमार आटविक (सीमारक्षक) सामन्त और सैनिक होते हैं।

ये प्रत्येक अपने-अपने अनुरूप कार्यों में लगाए जाते हैं अर्थात् जो जिस कार्य के योग्य होता है वह उस कार्य में राजा की सहायता पहुँचाया करता है। जैसा कहा भी है—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

अन्तःपुर में वर्षवर (नपुंसक) किरात गूँगे बौने, म्लेच्छ अहीर शकार ये सब सेवा करने के लिए रहते हैं। इनमें जो जिस कार्य के उपयुक्त होता है उसे वह कार्य करने को दिया जाता है ॥४५॥

शकार राजा का साला हुआ करता है। वह निम्न जाति का हुआ करता है। (यह राजा के निम्नजातीय पत्नी का भाई होता है)

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥४५॥

तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ॥४६॥

पहले बताये हुए नायक-नायिका दूत-दूती, पुरोहित मन्त्री आदि के उत्तम मध्यम और अधम इनके द्वारा प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं। यह जो उत्तम मध्यम और अधम भेद हैं यह गुणों की बढ़ती-घटती को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है, किन्तु गुणाधिक्य को ध्यान में रखकर किया गया है ॥४५ ४६॥

अब ऊपर बताये हुए नायक के व्यवहारों को बताते हैं—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी ।

नायक और नायिका के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। यह चार प्रकार की होती है—१ कैशिकी २ सात्वती ३ आरभटी और ४ भारती ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥४७॥

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें नायक-नायिका का व्यवहार गीत नृत्य विलास तथा शृङ्गारिक चेष्टाओं (काम की इच्छा से युक्त चेष्टाओं) के द्वारा सुकुमारता को प्राप्त हुआ रहता है ॥४७॥

नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥४८॥

कैशिकी के चार भेद होते हैं—१ नर्म २ नर्म स्फिञ्ज, ३ नर्म स्फोट और ४ नर्म-गर्भ ।

१ नर्म—प्रिय को प्रसन्न करने वाली चातुर्य से युक्त क्रीड़ा को नर्म कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—१ हास्य नर्म २ सहास्य शृङ्गार नर्म और ३ सहास्य भय नर्म। इनमें सहास्य शृङ्गार नर्म के भी तीन भेद होते हैं—१ आत्मोपक्षेप नर्म २ सम्भोग नर्म और

१ शुद्ध नर्म । सहास्य भय नर्म के भी दो भेद होते हैं—१ शुद्धभय नर्म और २ शृंगारान्तर्गत भय नर्म ।

हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।

भय नाम का सहास्य भय नर्म के भी शुद्ध और शृंगारान्तर्गत भय नर्म ये दो भेद होते हैं ।

आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥४९॥

फिर ये वाणी वेश और चेष्टा इनके द्वारा तीन-तीन प्रकार के होते हैं ।

शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः ।

सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥५०॥

इस प्रकार सब मिलाकर कुल १८ भेद होते हैं ॥४८-५०॥

नर्म की वृत्ति—प्रियजन को प्रसन्न करने के लिए किये गए परिहास का नाम नर्म है । इसमें ग्राम्य परिहास का होना निषिद्ध है । यह १ शुद्ध हास्य २ सहास शृंगार और सहास भय इनके द्वारा तीन प्रकार का होता है । इसमें दूसरे का स्वानुराग निवेदन (अपने प्रेम को जतलाना) सम्भोगेच्छा प्रकाशन (अपनी सम्भोग की इच्छा को व्यक्त करना) सापराध प्रिय प्रतिभेदन (अपराध करके आये हुए नायक का भण्डाफोड़ करना) इन भेदों से तीन प्रकार का होना है ।

इसमें वाणी द्वारा उत्पन्न हास्यनर्म का उदाहरण— पार्वतीजी के चरणों में सखी जब महावर लगा चुकी तब उसने ठिठोली करते हुए आशीर्वाद दिया कि भगवान् करे इन पैरों से अपने पति के सिर की चन्द्रकला को छुओ । इस पर पार्वतीजी मुँह से कुछ न बोलीं पर एक माला उठाकर (धीरे से) उसकी पीठ पर जड़ दी ।

वेशनर्म का उदाहरण नागानन्द नाटक में विदूषक शेखरक की वेशभूषा आदि का वर्णन ।

क्रियानर्म का उदाहरण— 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में स्वप्न देखते

बसत न यह मति ही मनभावत ।
देह न करति वृष्टि सुषमा की सूनी दृष्टि लखात ॥
झिल्लागुर सो सास भरत छिन-छिन सूनी दरसावै ।
कारन का यहि के विषाद कछु और समझ नहि आवै ॥
घनघरही घिरि भुवन भुवन मे मनमथ विजय दुहाई ।
ओर मरोर भरी जोबन नदि यहि तन म उमगाई ॥
प्रकृति मधुर रमनीय भाव जब जोबन ज्योति प्रकासै ।
बरबस मन बस करत धीरता धीरज हू की नासै ॥

यहाँ पर माधव के वचन आदि से प्रकट होने वाले थोडे भावो से मालती के विषय मे उसका अनुराग थोडी मात्रा मे सूचित होता है ।

नर्मगर्भ—

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।
अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्र कैशिकी ॥५२॥

कार्यसिद्धि के लिए नायक के गुप्त व्यवहार को नर्मगर्भ कहते हैं। यह कैशिकी वृत्ति का अन्तिम चौथा भेद है। इसके भी दो भेद होते हैं—सहास्य और निर्हास्य ॥ ५२ ॥

जैसे अमरुशतक म—एक आसन पर अपनी दोनो प्रेमिकाओं को बैठा देख कामक्रीडा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँखे मूँदकर अपने कन्धे को जरा मोडकर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका को आनन्द से चूम रहा है ।

और जैसे 'प्रियदर्शिका' मे गर्भाङ्क मे वत्सराज का वेष धारण करके आई हुई सुसङ्गता के स्थान पर पास ही मे स्वय वत्सराज का आ जाना ।

सात्वती—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्य परिवर्तक ॥५३॥

नायक के शोकरहित सत्त्व शौर्य दया त्याग और आर्जवयुक्त व्यापार को सात्त्वती वृत्ति कहते हैं। इसके संलापक, उत्थापक सांघात्य और परिवर्तक, ये चार भेद होते हैं ॥५३॥

संलापको गम्भीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः ।

संलापक—नाना प्रकार के भाव और रसों से युक्त गम्भीर उक्ति को संलापक कहते हैं।

जैसे राम 'महावीरचरित' नाटक में परशुराम से कहते हैं—

निश्चय ही यह वह फरसा है जो सपरिवार कार्तिकेय के जीते जाने पर भगवान् शंकर के द्वारा हजार वर्ष तक शिष्य बने हुए आपको प्रसाद रूप में दिया गया था।

यह सुनकर परशुराम बोलते हैं—

हे राम तुम्हारा कथन सत्य है यह मेरे गुरुदेव शंकर का प्यारा वही परशु है।

"शस्त्र-परीक्षा के दिन बनावटी युद्ध में गणों से घिरे हुए कुमार कार्तिकेय को मैंने हराया इससे प्रसन्न हो गुणों के प्रेमी भगवान् शंकर ने प्रसाद रूप में इसे मुझे प्रदान किया। इत्यादि। नाना प्रकार के भावों और रसों से युक्त राम और परशुराम की गम्भीर युक्ति-प्रयुक्ति संलापक है।

उत्थापक—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत् परम् ॥५४॥

युद्ध के लिए जहाँ नायक शत्रु को ललकारे ऐसे स्थल पर उत्थापक होता है। अर्थात् नायक के द्वारा युद्ध के लिए शत्रु के ललकारने को उत्थापक कहते हैं ॥ ५४ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—

हे राम तेरा दर्शन मेरे लिए आनन्दप्रद हुआ अथवा आश्चर्यो-त्पादक हुआ था कम देने के लिए क्या कुछ समझ में नहीं आ रहा

है। पता नहीं क्यों मेरे ऐसे नीरस के नेत्रों में भी तुम्हें देखते रहने की इस प्रकार की उत्कट तृष्णा पैदा हो गई है। और मेरी तलवार में तेरी संगति का सुख नहीं बदा है अतः अखिल पराक्रमी परशुराम के जीतने के लिए तेरी भुजाओं में मेरा यह अद्भुत प्रेरणा संचार करे।

सांघात्य—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यं संघभेदनम्।

मंत्र अर्थ या दैवी शक्ति के सहारे किसी संघटना में फूट पैदा कर देने का नाम सांघात्य है।

मन्त्र-शक्ति द्वारा फूट पैदा करना जैसे—

'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य का अपनी बुद्धि के द्वारा राक्षस के मित्रों में फूट पैदा कर देना।

अर्थशक्ति जैसे—वहीं पर (मुद्राराक्षस नाटक में) पर्वत के आभूषण को राक्षस के हाथ में पहुँचाकर मलयकेतु के साथ फूट पैदा करा देना।

दैव-शक्ति का उदाहरण—रामायण में राम का रावण से विभीषण को तोड़ लेना।

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात् परिवर्तकः ॥५५॥

परिवर्तक—प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड़ दूसरे कार्य के आरम्भ कर लेने को परिवर्तक कहते हैं ॥ ५५ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में—परशुराम कहते हैं कि "हे राम गणेश के मूसल के समान दाँतों से चिह्नित तथा स्वामी कार्तिकेय के तीक्ष्ण शरों के प्रहार के व्रण से सुशोभित मेरी छाती तेरे जैसे अद्भुत पराक्रमशाली के मिलने से रोमांचित हुई (तेरा) आलिंगन चाहती है। यह सुनकर राम कहते हैं—

"भगवन्! आलिंगन तो प्रस्तुत व्यापार (युद्ध) के विरुद्ध है।

इत्यादि। भारती के बाद आरभटी वृत्ति को बताते हैं—

इस वृत्ति में माया इन्द्रजाल संग्राम क्रोध उद्भ्रान्ति प्रस्ताव आदि बातें होती हैं।

एभिरङ्गैश्चतुर्थेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥५६॥
संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थापनावपातने ।

अवास्तविक वस्तु को मंत्र के बल से दिखलाने आदि को माया कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—१ संक्षिप्ति २ संफेट, ३ वस्तूत्थापन और ४ अवपात ॥ ५६ ॥

संक्षिप्ति—

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७॥
पूर्वनेतृनिवृत्त्यान्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

शिल्प के योग से संक्षिप्त वस्तु-रचना को संक्षिप्ति कहते हैं। कुछ लोगों के मत में प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना संक्षिप्ति है ॥ ५७ ॥

मिट्टी बांस पत्तों और चमड़े आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन अर्थात् वस्तु के तैयार हो जाने का नाम संक्षिप्ति है। इसका उदाहरण है बांस का बना हाथी।

दूसरे लोग नायक की एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था के आने को संक्षिप्ति बतलाते हैं।[1] जो लोग प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति की परिभाषा बताते हैं उनके अनुसार इसका उदाहरण है बालि का निधन हो जाने पर सुग्रीव का

१ ग्रन्थकार धनञ्जय का मत पहला है और वृत्तिकार धनिक का दूसरा है अर्थात् एक नायक के बाद दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति है यह ग्रन्थकार धनञ्जय का मत है। और एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का आना वृत्तिकार धनिक का मत है।

करता है उस समय उसके पैरों में लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ झंकृत होने लगती हैं। वह स्त्रियों को डराते हुए तथा मत्स्यजालों के रस्सों से पीछा किए जाते हुए रनिवास में प्रवेश कर रहा है।

और भी— 'मनुष्य में गिनती न होने से नपुंसक लज्जा छोड़कर छिप गए, बौने डर के मारे कंचुकी के वस्त्र में छिपने लगे, किरातों ने भी अपनी जाति के अनुरूप ही कार्य किया क्योंकि वे इधर-उधर (कोने में) तितर-बितर हो गए। और कुबड़े भी कमर नहीं देख सके इसलिए और माथे म्लान हो गए।

'प्रियदर्शिका' में विन्ध्यकेतु पर किए गए आक्रमणकालीन कोलाहल भी इसका उदाहरण है।

एभिरङ्ग्यश्चतुर्थेयं नार्थवृत्तिरतः परा ।
चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥६०॥
कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति ।
पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥६१॥

[तीन वृत्तियों को बताया जा चुका है।] चौथी भारती वृत्ति का नाटकीय व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह केवल शाब्दिक वृत्ति है। इन चारों के अलावा कुछ लोग एक 'अर्थवृत्ति' नाम की पाँचवीं वृत्ति मानते हैं। इसके माननेवाले उद्भट और उनके अनुयायी हैं। पर इस वृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका कोई उदाहरण मिलता नहीं है। और यह हास्य आदि रसों में व्याप्त भी नहीं हो सकती क्योंकि भारती के समान ही प्रसक्त होने से नीरसता स्वतःसिद्ध है। अर्थात् वाच्य होने के कारण भारती नीरस होती है क्योंकि रस तो व्यंग्य ही रहता है और उसी के समान ही इस पाँचवीं को भी मानें तो वह भी भला हास्यादि रसों में कैसे रह सकती?

साहित्य शास्त्र में वाच्य का व्यवहार रसवान् के ही लिए होता है नीरस के लिए नहीं होता। इन तीन ही सात्त्वती आरभटी और कैशिकी

नायक बनना। और जो लोग एक अवस्था की निवृत्ति के बाद दूसरी अवस्था में आने का नाम संक्षिप्ति बताते हैं उनके अनुसार इसका उदाहरण है—'महावीरचरित' में परशुराम का उद्धतता को त्यागकर शान्तभाव का ग्रहण करना।

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥५८॥

संफेट—दो क्रुद्ध व्यक्तियों में एक की दूसरे के प्रति जो गाली-गलौज होती है उसे संफेट कहते हैं।

जैसे 'मालतीमाधव' में माधव और अघोरघण्ट का और रामायण में वर्णित चरित्रों में से लक्ष्मण और मेघनाद का आपसी वाग्युद्ध आदि ॥ ५८ ॥

वस्तूत्थापन—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते।

माया आदि से उत्पन्न वस्तु को वस्तूत्थापन कहते हैं।

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक में—

'छिपती होते हुए भी चमकती हुई सूर्य की सम्पूर्ण किरणें पता नहीं कैसे आकाशव्यापी अति सघन अन्धकार के द्वारा पराजित हो गयी हैं। दूसरी तरफ भयानक अवस्था के धड़ों से निकले हुए रक्त को पी पी कर पेट भर जाने से डकारने वाली और अपनी मुखरूप उल्का से आग उगलनेवाली सियारिनों का करुण क्रन्दन हो रहा है।

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥५९॥

अवपात—निकलना, प्रवेश करना, भय करना और भागना ये बातें अवपात के भीतर पाई जाती हैं ॥ ५९ ॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में गजशाला से बन्धन को तोड़कर यह बन्दर रनिवास में प्रवेश कर रहा है। इसके गले में सोने की टूटी हुई जंजीर पड़ी हुई है। यह जोर सीढ़ी की तरह खींचता हुआ बढ़ रहा है। यह [illegible] बानर जाति के अनुरूप सब क्रीड़ा (कूदना देना आदि)

करता है उस समय उसके पैरों में लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ मुखरित होने लगती हैं। वह स्त्रियों को डराते हुए तथा अश्वशाला के रस्सों से पीछा किए जाते हुए रनिवास में प्रवेश कर रहा है।

और भी—'मनुष्य में गिनती न होने से नपुंसक लज्जा छोड़कर छिप गए, बौने डर के मारे कञ्चुकी के वस्त्र में छिपने लगे, किरातों ने भी अपनी जाति के अनुरूप ही कार्य किया, क्योंकि वे इधर-उधर (कोने में) तितर-बितर हो गए। और कुब्जे भी कमर कहीं देख न ले इसलिए और नीचे स्थित हो गए।

'प्रियदर्शिका' में विन्ध्यकेतु पर किए गए आक्रमणकालीन कोलाहल भी इसका उदाहरण है।

> एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं नार्थवृत्तिरतः परा ।
> चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥६०॥
> कैशिकीं सात्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति ।
> पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥६१॥

[तीन वृत्तियों को बताया जा चुका है।] चौथी भारती वृत्ति का नाटकीय व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह केवल शाब्द वृत्ति है। इन चारों के अलावा कुछ लोग एक 'अर्थवृत्ति' नाम की पाँचवीं वृत्ति मानते हैं। इसके माननेवाले उद्भट और उनके अनुयायी हैं। पर इस वृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका कोई उदाहरण मिलता नहीं है। और यह हास्य आदि रसों में जरा भी नहीं हो सकती क्योंकि भारती के समान ही उसके होने में नीरसता स्वयंसिद्ध है। अर्थात् शाब्द होने के कारण भारती नीरस होती है क्योंकि रस तो व्यंग्य ही रहता है और उसी के समान ही इस पाँचवीं को भी मानें तो वह भी क्या हास्यादि रसों में रह सकेगी?

साहित्य-शास्त्र में काव्य का व्यवहार रसवान् के ही लिए होता है नीरस के लिए नहीं होता। इस तरह हो सकती भारती और कैशिकी

की तरह देवर से भी सम्बोधित की जाएं ॥ ६९ ॥

एक स्त्री दूसरे को क्या कहकर बुलाती है इस बात को बताते हैं—

आमन्त्रणैश्च पतिवज्ज्येष्ठमध्याधम स्त्रियः ।
समा हलेति प्रेष्या च हञ्जे वेश्याऽज्जुका तथा ॥७० ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥७१॥

अपनी सहेलियों को हला प्रेष्या को हञ्जे वेश्या को अज्जुका कह कर पुकारे । कुट्टिनी अम्बा पूज्या और जरती इन शब्दों से पुकारी जाएं। विदूषक रानी और चेटी दोनों को भवती शब्द से बुलावे ॥ ७०-७१ ॥

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावानशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा यो वा न
देवः शशिखण्डमौलिः ॥७२॥

आचार्य भरत और भगवान् शंकर के अलावा ऐसा कौन होगा जो चेष्टा, गुण सात्त्विक भाव और अपरिमित नायक और नायिकाओं की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने में समर्थ हो सके ? अर्थात् इनके वर्णन में भगवान् शंकर और आचार्य भरत के अलावा कोई भी समर्थ नहीं ॥७२॥

॥ धनञ्जय के दशरूपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि संक्षेप में केवल एक रास्ता-भर दिखला दिया गया है । अगर कोई चाहे तो स्वयं और भी विस्तार कर सकता है । लीला आदि को चेष्टा कहते हैं विनय आदि को गुण कहते हैं । उदाहरण का अर्थ होता है संस्कृत और प्राकृत में बोलना । सत्त्व विकार रहित मन को कहते हैं । सात्त्विक भाव मन की प्रथम विकृत अवस्था को कहते हैं । इसी के द्वारा हाव आदि का ग्रहण होता है ।

॥ विष्णु के पुत्र धनिक के दशरूपावलोक व्याख्या का नेतृ प्रकाश नाम का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

———

वृत्ति मानना युक्तिसंगत है ॥ ६ ६१ ॥

कौन वृत्ति किस रस मे रहती है इस बात को बताते है—

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।

रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६२॥

कैशिकी वृत्ति शृंगार रस मे सात्त्वती वीर रस में आरभटी रौद्र और बीभत्स रस में तथा भारती वृत्ति सर्वत्र रहती है ॥ ६२ ॥

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।

लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥६३॥

नायक आदि देश के भिन्न होने से भिन्न वेष आदि में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् जिस देश के नायक आदि होंगे उसी देश की भाषा और वेष धारण करेंगे। पात्र जिस देश के नायक आदि का अभिनय करता है उसी देश की भाषा वेष क्रिया आदि का व्यवहार करता है। पात्र को लौकिक व्यवहार आदि ज्ञान के द्वारा इस बात की जानकारी प्राप्त कर जहाँ जैसा उचित हो वहाँ वैसा करना चाहिए ॥ ६३ ॥

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।

लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥६४॥

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च ।

कौन पात्र किस भाषा का प्रयोग करे अब इस बात को बताते हैं—श्रेष्ठ पुरुष महात्मा ब्रह्मचारी संस्कृत भाषा का प्रयोग करें। कहीं-कहीं महारानी मन्त्री की लड़की और वेश्या भी संस्कृत में बोल सकती हैं। स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिए। अधम लोगों के लिए शौरसेनी भाषा उपयुक्त है ॥ ६४ ॥

प्रकृति कहते हैं संस्कृत को अतः उससे पैदा होने के कारण देशी भाषाओं को प्राकृत कहते हैं। शौरसेनी और मागधी अपने स्थान पर ही होती हैं। अर्थात् शौरसेनी मध्यम और मागधी अधम लोगों को बोलनी चाहिए।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥६५॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥६६॥

पिशाचों को पैशाची तथा अत्यन्त निम्नवर्ग के लोगों को मागधी बोलनी चाहिए। जिस देश का वह नीच पात्र हो उसको उसी देश की भाषा बोलनी चाहिए। कार्य आदि की दृष्टि से उत्तम लोगों की भाषा में भी व्यतिक्रम हो सकता है ॥ ६५ ६६ ॥

बुलानेवाले तथा बोलनेवाले के औचित्य का ध्यान रखकर बुलाने की बात या कौन किस किस शब्द से सम्बोधित करे यह बात बताते हैं—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥६७॥
रथी सूतेन चायुष्मान् पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु सः ॥६८॥

सज्जन लोग विद्वान्, देव ऋषि ब्रह्मचारी इन लोगों को 'भगवन्' कहके बुलाएं और ब्राह्मण मन्त्री तथा बड़े भाई को 'आर्य' कहके पुकारें। नटी और सूत्रधार आपस में एक-दूसरे को 'आर्य' कहके बुलायें। रथ हाँकनेवाला रथ पर चढ़े व्यक्ति को 'आयुष्मान्' कहके सम्बोधित करे। पूज्य लोग शिष्य पुत्र छोटे भाई इनको वत्स और तात इन दोनों शब्दों में से किसी से पुकारें। और पूज्य लोग भी शिष्य आदि के द्वारा 'तात', 'सुगृहीतनामा' इन शब्दों से पुकारे जाएँ। पारिपार्श्विक सूत्रधार को भाव और सूत्रधार उसे मार्ष कहके पुकारे ॥ ६७-६८ ॥

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च ।
देवः स्वामीति नृपतिभृत्यैर्भट्ट ति चाधमैः ॥६९॥

भृत्य राजा को देव और स्वामी कहें और अधम जन भट्ट कहें। नायक अपनी नायिकाओं को ज्येष्ठा, मध्यमा और अधमा को जैसा बुलाता हो वैसा ही बुलावे। विद्वान् और देवता आदि की स्त्रियाँ पति

## तृतीय प्रकाश

यद्यपि इस प्रकाश में रस का ही वर्णन होना चाहिए क्योंकि वस्तु और नेता के वर्णन के बाद उसी का क्रम प्राप्त है, पर रस के विषय में बहुत कहना है इसलिए उसको छोड़ यहाँ (इस प्रकाश में) वस्तु नेता और रस इनका पृथक्-पृथक् नाटक में क्या उपयोग होता है इस बात को बताते हैं।

प्रश्न—रूपक के दस भेदों में से सर्वप्रथम नाटक को ही क्यों बताते हैं?

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयोरसपरिग्रहात्।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१॥

उत्तर—नाटक ही सब रूपकों का मूल है एक तो यह कारण है। दूसरी बात यह है कि इसी के भीतर रसों का बाहुल्य रहता है। इसके अलावा तीसरा कारण यह है कि सम्पूर्ण रूपकों के लक्षण केवल इसीमें घटित होते हैं। इन्हीं कारणों से सर्वप्रथम नाटक के ही भीतर वस्तु नेता और रस के उपयोग को बताते हैं ॥१॥

पूर्वरंगं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥२॥

नाटक में सर्वप्रथम पूर्वरंग होना चाहिए। पूर्वरंग के बाद सूत्रधार को जाना चाहिए और उसके चले जाने के बाद उसी के ही समान किसी दूसरे नट को रंगमंच पर आकर अभिनेय काव्य-कथा की सूचना सामाजिकों को देनी चाहिए ॥२॥

[नाटक की मुख्य कथा के प्रारम्भ से पहलेवाले सारे कृत्यों को

पूर्वरंग कहते हैं। इसमें नाटयशाला की रचना आदि से लेकर देवस्तुति आदि सभी बातें आ जाती हैं।]

वृत्तिकार धनिक का कहना है कि पूर्वरंग तो हुई नाटयशाला और उसमें होनेवाला प्रथम जो प्रयोग है उसके प्रारम्भ को पूर्वरंगता कहते हैं। उसी पूर्वरंगता का सम्पादन कर सूत्रधार के चले जाने के बाद उसके ही सदृश वैष्णव वेषधारी कोई दूसरा नट प्रवेश कर जिसका अभिनय होनेवाला है, उस काव्य-कथा को सूचित करे। इस सूचना देनेवाले व्यक्ति को स्थापक कहते हैं क्योंकि वह सूचना द्वारा काव्य-कथा को सूचित करता है।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥३॥

स्थापक को यदि दिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो उसे दिव्य (देवता के) रूप से और यदि अदिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो मनुष्य वेष से तथा यदि मिश्रवस्तु की सूचना देनी हो तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके सूचना देनी चाहिए।

यह सूचना चार बातों की होती है—१ वस्तु, २ बीज ३ मुख और ४ पात्र ॥३॥

वस्तु की सूचना जैसे 'उदात्तराघव' नाटक में—

"रामचन्द्र अपने पिता की आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य कर वन को चले गये। उनकी (राम की) भक्ति के कारण भरत ने अपनी माता के साथ अयोध्या के सम्पूर्ण राज्य को तिलाञ्जलि दे दी। सुग्रीव और विभीषण ने राम से मित्रता कर अलौकिक सम्पत्ति को पाया। और घमण्ड से चूर रहने वाले रावण आदि सारे शत्रु शत्रुता रखने के कारण विनाश को प्राप्त हुए।

बीज की सूचना का उदाहरण रत्नावली नाटिका का 'द्वीपादन्यस्मात्' श्लोक है जिसका अर्थ पहले ही बताया जा चुका है।

मुख—जैसे घने अन्धकार वाले वर्षाऋतु रूपी रावण को मार

कर स्वच्छ चन्द्रमा का हास्य लिए हुए स्वच्छ-शरद्काल-रूपी राम प्रकटित हुए।

पात्र-सूचना—जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"तुम्हारे गीत के मनोहर राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया है जैसे वेग से दौड़ता हुआ यह हरिण राजा दुष्यन्त को।"

रंगं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

अभिनेय काव्यकथा की जिससे सूचित होती हो ऐसे मधुर श्लोकों से सामाजिकों को प्रसन्न करता हुआ किसी ऋतु को लेकर भारती वृत्ति का आश्रयण करे ॥४॥

उदाहरणार्थ—

"प्रथम समागम के अवसर पर भगवान् शंकर से आलिंगित पार्वतीजी आप लोगों की रक्षा करें। पार्वती जी को पति के पास जाने की तैयारी कर चल चुकने के बाद भी जो नवोढ़ा अवस्था के अनुकूल स्वाभाविक लज्जावश रोक दी गई और फिर सखियों द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षा पाकर शिवजी के पास पहुँचा दी गई तथा वहाँ जाने पर शंकरजी के अपूर्व दर्शन से चकित हो गई और अनुरागवश उनके शरीर में रोमाञ्च हो आए। इस अवस्था को प्राप्त भगवान् शंकर द्वारा आलिंगित पार्वती आप लोगों की रक्षा करें।"

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥५॥

भारती वृत्ति—नट के आश्रय करके होने वाले संस्कृतबहुला वाणी के व्यापार को भारती वृत्ति कहते हैं। अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें बातचीत संस्कृत में होती है और जो नट के आश्रित रहती है और जिसमें वाणी की ही प्रधानता होती है अंग की नहीं।

इसके चार अंग होते हैं—१ प्ररोचना, २ वीथी, ३ प्रहसन और ४ आमुख ॥५॥

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्ररोचना—प्रस्तुत की प्रशंसा कर सामाजिकों के भीतर उत्कण्ठा जागृत कर देने का नाम प्ररोचना है।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सूत्रधार कहता है—

मेरे सौभाग्य से नाटक में अपेक्षित सभी गुण एक ही साथ मिल गए। इनमें से एक-एक वस्तु भी वाञ्छित फल की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है और जब सब मिल जाएँ तो फिर क्या कहना ? देखो इस नाटिका के रचयिता स्वयं महाराज हर्ष हैं। सामाजिक (दर्शक) भी गुणग्राही हैं और कथावस्तु का चुनाव भी अति उत्तम है। कारण यह है कि इसमें वर्णित वत्सराज उदयन का चरित भी लोगों के मन को चुरानेवाला (लुभानेवाला) सिद्ध हो चुका है तथा इसका अभिनय भी हम सरीखे चतुर अभिनेताओं द्वारा किया जा रहा है।

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६॥

वीथी और प्रहसन के बारे में आगे चलकर वहीं उनका प्रसंग आने पर बताया जाएगा। वीथी के जो अंग हैं वही आमुख के भी हैं। अतः यहाँ पर आमुख होने के कारण वीथी के अंगों का वर्णन कर रहे हैं—

वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ॥७॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥८॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक और विदूषक इनमें से किसी एक से बातचीत करता हुआ सूत्रधार का आक्षिप्त-पूर्ण ढंग से कथन के आरम्भ करा देने का नाम आमुख है। आमुख का दूसरा नाम प्रस्तावना भी है। आमुख के तीन अंग होते हैं—१ कथोद्घात २ प्रवृत्तक और ३ प्रयोगातिशय। वीथी के तेरह अंग होते हैं ॥७-८॥

स्वेतिवृत्तिसम वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिण: ॥१॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव स: ।

कथोद्घात—अपनी कथा के ही सदृश सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या अर्थ को ग्रहण करके पात्र के प्रवेश होने का नाम कथोद्घात है। यह दो प्रकार का होता है। पहला वाक्य ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना और दूसरा वाक्यार्थ ग्रहण कर पात्र का प्रवेश करना ॥९॥

पहले का उदाहरण है—

द्वीपादन्यस्मादपि—

इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है।

वाक्यार्थ का उदाहरण जैसे 'वेणीसंहार' में सूत्रधार कहता है—

'मन्त्रि के हो जाने से तथा शत्रुओं के नष्ट हो जाने के कारण शान्त हो गया है अग्निरूपी क्रोध जिनका ऐसे पाण्डव भगवान् कृष्ण के साथ आनन्दपूर्वक विचरण करें और विग्रह विहीन कौरव जिन्होंने प्रेम पूर्वक प्रजा-पालन से समस्त भूमण्डल को वशीभूत कर लिया है वे भी अपने अनुचरों के साथ स्वस्थ होवें।

इसके बाद पूर्व-कथित वाक्य के अर्थ को लेकर भीम का यह कहते हुए प्रवेश करना—

जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाख (लाह) का घर बनाकर विष मिला भोजन देकर छलने के लिए द्यूत का आयोजन करके हम लोगों के प्राण और धन हरण करने की चेष्टा की तथा जिन्होंने भरी सभा में हमारी स्त्री द्रौपदी के केशों और वस्त्रों को खींचा वे मेरे जीते जी स्वस्थ कैसे रह सकते हैं?

प्रवृत्तक

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेश: स्यात् प्रवृत्तकम् ॥१०॥

सूत्रधार के द्वारा ऋतु-विशेष के वर्णन के समान गुणों के कारण जिसकी सूचना मिलती उस पात्र के प्रवेश करने को प्रवृत्तक कहते हैं॥१ ॥

यह स्वच्छन्द रहता है और सुख से ही इस पर चला आता है। स्नेह के इस प्रकार के ललित मार्ग को ही कामदेव कहते हैं।

विदूषक—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके लिए काम ही हो जाएगा ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—अच्छी बात है तब तो मैं जान गया भोजनालय में मेरी भोजन करने की इच्छा का होना भी काम है।"

दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'पाण्डवानन्द' काव्य में—'गुणीजन किस वस्तु के होने से प्रशंसनीय समझे जाते हैं ? 'क्षमा'। अनादर किसे कहते हैं ? 'जो अपने कुलवालों के द्वारा किया जाए। दुःख किसे कहते हैं ? 'दूसरे के वश में रहना। संसार में कौन प्रशंसनीय है ? जो विपत्ति में पड़े लोगों को आश्रय दे। मृत्यु किसे कहते हैं ? 'व्यसनों में फँसे रहने को। चिन्ता रहित कौन है ? 'जिसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। ऊपर कहे तथ्यों से युक्त कौन पुरुष है ? 'विराट् नगर में छिपे हुए पाँचों पाण्डव-पुत्र।

यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

अवलगित—(१) एक ही क्रिया के द्वारा जहाँ दो कार्यों की सिद्धि होती है, तथा (२) अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते अन्य क्रिया जाए उसे अवलगित कहते हैं। इस प्रकार अवलगित दो प्रकार का होता है ॥१४॥

उसमें पहले का उदाहरण जैसे 'उत्तररामचरित' में गर्भिणी सीता को ऋषियों के आश्रम देखने की इच्छा होती है पर इस इच्छा की पूर्ति के बहाने फैले हुए अपवाद के कारण वह लक्ष्मण के द्वारा छोड़ दी जाती है। दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'छलितराम' में—"राम—लक्ष्मण ! पिताजी से रहित इस अयोध्या में विमान के द्वारा जाने में असमर्थ हूँ अतः उतरकर पैदल ही चलता हूँ।

"अरे सिंहासन के नीचे पादुकाओं को आगे करके बैठा हुआ यह

जैसे—पृष्ठ १८ की टिप्पणी मे दिया जा चुका है।

एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः।

पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥११॥

प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार नटी से किसी प्रसंग की चर्चा करते हुए अभिनेय व्यक्ति का नाम लेकर संकेत करे कि 'आप ये तो वे ही हैं' या 'उनके समान हैं।' और उसके कथन के साथ ही उस व्यक्ति के अभिनय करने वाले पात्र का प्रवेश हो जाए उसे प्रयोगातिशय कहते हैं ॥११॥

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का—"एष राजेव दुष्यन्त

अब वीथी के अंगों को बताया जा रहा है—

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम्।

वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥१२॥

असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश।

वीथी के तेरह अंग होते हैं—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित (३) प्रपञ्च (४) त्रिगत (५) छल (६) वाक्केली (७) अधिबल, (८) गण्ड (९) अवस्यन्दित (१ ) नालिका (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार (१३) मृदव ॥१ ॥

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥

यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते।

१ उद्घात्यक—गूढार्थ की पर्यायमाला (क्रम से एक के बाद दूसरे का आना) अथवा प्रश्नोत्तर शृंखला (लड़ी) के द्वारा जो दो व्यक्तियों की बातचीत होती है उसे उद्घात्यक कहते हैं ॥१३॥

प्रथम का उदाहरण जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में—

"विदूषक—हे मित्र यह कौन कामदेव है जो तुम्हें दुख पहुँचाया करता है ? वह क्या पुरुष है अथवा स्त्री ?

राजा—मित्र ! मन से ही उसकी उत्पत्ति होती है, अतः मन ही उसकी जाति है।

यह स्वच्छन्द रहता है और मुख में ही इस पर चला आता है। स्नेह के इस प्रकार के ललित मार्ग को ही कामदेव कहते हैं।

विदूषक—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके लिए काम ही हो जाएगा ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—अच्छी बात है तब तो मैं जान गया भोजनालय में मेरी भोजन करने की इच्छा का होना भी काम है।"

दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'पाण्डवानन्द' काव्य में— 'गुणीजन किस वस्तु के होने से श्लाघनीय समझे जाते हैं ? 'क्षमा'। अनादर किसे कहते हैं ? 'जो अपने कुलवालों के द्वारा किया जाए। दुःख किसे कहते हैं ? 'दूसरे के वश में रहना। संसार में कौन प्रशंसनीय है ? 'जो विपत्ति में पड़े लोगों को आश्रय दे। मृत्यु किसे कहते हैं ? 'व्यसनों में फँसे रहने को। चिन्ता रहित कौन है ? 'जिसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। ऊपर कहे तथ्यों से युक्त कौन पुरुष है ? 'विराट् नगर में छिपे हुए पाँचों पाण्डव-पुत्र।

यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

अवलगित—(१) एक ही क्रिया के द्वारा जहाँ दो कार्यों की सिद्धि होती है तथा (२) अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते अन्य किया जाए उसे अवलगित कहते हैं। इस प्रकार अवलगित दो प्रकार का होता है ॥१५॥

उसमें पहले का उदाहरण जैसे 'उत्तररामचरित' में गर्भिणी सीता को ऋषियों के आश्रम देखने की इच्छा होती है पर इस इच्छा की पूर्ति के बहाने फैले हुए अपवाद के कारण वह लक्ष्मण के द्वारा छोड़ दी जाती है। दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'छलितराम' में— 'राम—लक्ष्मण! पिताजी से रहित इस अयोध्या में विमान के द्वारा जाने में असमर्थ हूँ अतः उतरकर पैदल ही चलता हूँ।

"अरे सिंहासन के नीचे पादुकाओं को आगे करके बैठा हुआ यह

मालाओं तथा जटाजूटों से युक्त कौन पुरुष सुशोभित हो रहा है ?

यहाँ भरत के दर्शनरूप कार्य की सिद्धि होती है।

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥१५॥

प्रपंच—असत्कर्मों के कारण आपस में हास्योत्पादक प्रशंसा करने का नाम प्रपंच है ॥१५॥

असत्कर्म के अन्दर परस्त्रीगमन में निपुण होना आदि बातें आती हैं।

जैसे 'कर्पूर-मंजरी' में भैरवानन्द का यह कथन — 'कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसको हमारा कौल धर्म पसन्द न आए ? रण्डा (विधवा) अथवा अर्थात् प्रचण्ड पराक्रमशालिनी स्त्री ही तो हमारी शास्त्रविहित नारियाँ हैं। भिक्षाटन ही जीविका का साधन है। चर्म का टुकड़ा ही हमारी शैया है तथा मद्य और मांस ही हमारा पेय तथा खाद्य पदार्थ है।

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥१६॥

त्रिगत—शब्दों की साम्यता अर्थात् जहाँ एक शब्दोच्चारण से अनेक अर्थों की योजना होती है उसे त्रिगत कहते हैं। इसका आयोजन पूर्वरंग में नट आदि तीन पात्रों की बातचीत से होता है ॥१६॥

जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में— 'क्या यह फूलों का रस पीकर मदोन्मत्त भौंरों की गुंजार है या कोयल की मस्तानी कूक ? अथवा आकाश में देवताओं के साथ आई हुई अप्सराओं की मीठी तान ?"

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।

छलन—ऊपर से देखने में जो प्रिय लगे पर हो अप्रिय ऐसे वाक्यों द्वारा लुभा करके छलने (ठगने) का नाम छलन है।

जैसे भीम-अर्जुन— 'पृथ्वी पर का निर्माता लाख (लाह) निर्मित भवन में आग लगानेवाला द्रौपदी के केश और वस्त्रों के अपहरण करने में वायु के समान पराक्रम को दिखानेवाला पाण्डव जिनके सेवक हैं

और दुःशासन आदि सौ भाइयों में ज्येष्ठ कर्ण का मित्र दुर्योधन कहाँ है ?

विनिवृत्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥१७॥

वाक्केली—इसके दो भेद होते हैं। पहले का लक्षण—प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाना या उसको बदल देने को वाक्केली कहते हैं ॥१७॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में वासन्ती राम से कह रही है कि आपने जिस सीता से यह कहा था कि "तुम ही मेरा जीवन-सर्वस्व हो तुम्हीं मेरा दूसरा हृदय हो तुम्हीं मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो और तुम्हीं मेरे अंगों के लिए अमृत हो उसी सीता को इस प्रकार से सैकड़ों चाटुकारिता-भरी बातें करके और भरमाकर उसकी जो दशा (आपके द्वारा) की गई उसका न कहना ही ठीक है।"

वाक्केली का दूसरा लक्षण—दो-तीन व्यक्तियों की हास्ययुक्त उक्ति-प्रयुक्ति को वाक्केली कहते हैं।

जैसे 'रत्नावलीनाटिका' में—विदूषक—मदनिके। मुझे भी यह चर्चरी सिखाओ।

मदनिका—मूर्ख इसे चर्चरी नहीं कहते यह तो द्विपदी खण्ड है।

विदूषक—अभी तो क्या यह लड्डू बनाने के काम आता है ?

मदनिका—ऐसी बात नहीं है यह पढ़ा जाता है।

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।

अधिबल—दो व्यक्तियों का एक का दूसरे की अपेक्षा बढ़-बढ़कर स्पर्धा के साथ बात करने को अधिबल कहते हैं।

जैसे 'वेणीसंहार' में अर्जुन का धृतराष्ट्र और गान्धारी के सामने अपना परिचय देते हुए यह कथन—

"जिसके बल पर आपके पुत्र सम्पूर्ण भूमि पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाए हुए थे जिसके अहंकार से विश्व तिनके के समान तिरस्कृत हो चुका था उसी कर्ण के सिर को युद्ध के बीच काटनेवाला यह पाण्डु का मध्यम पुत्र अर्जुन आप लोगों को प्रणाम करता है। इसके बाद

भीम की भुजाएँ और गान्धारी को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

यहाँ से प्रारम्भ कर फिर दुर्योधन के इस कथन तक—"अरे भीम मैं तेरे जैसा डींग हाँकनेवाला नहीं हूँ किन्तु शीघ्र ही तेरे भाई-बन्धु तुझे समराङ्गण के बीच मेरी गदा से टूटी पसलियों के भयानक आभूषण से सुसज्जित शीघ्र ही देखेंगे।

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति बढ़-चढ़कर स्पर्धा के साथ वाक्युद्ध का होना ही अधिबल है।

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥१८॥

गण्ड—प्रासङ्गिक विषय से सम्बन्धित भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले त्वरायुक्त वाक्य को गण्ड कहते हैं ॥ १८ ॥

जैसे—'उत्तररामचरित' में— 'यह सीता घर की लक्ष्मी है, यह नेत्रों में अमृतशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन का रस के समान है और यह बाहु-गले पर शीतल और कोमल मुक्ताहार है। इसकी क्या वस्तु प्रियतर नहीं है ? परन्तु इसका वियोग तो बहुत ही असहनीय है।"

प्रतिहारी (प्रवेश कर)—महाराज उपस्थित है।

राम—अरी कौन उपस्थित है ?

प्रतिहारी—महाराज का समीपवर्ती सेवक दुर्मुख।

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ।

अवस्यन्दित—साथ-साथ कहे हुए वाक्य का दूसरे ही प्रकार से दूसरी ही व्याख्या कर देने (किये) को अवस्यन्दित कहते हैं।

जैसे—'छलित राम' नाटक में "सीता लव और कुश दोनों बच्चों से कहती है—बेटा तुम लोगों को कल अयोध्या जाना है। वहाँ जाकर राजा को नम्रतापूर्वक प्रणाम करना।

लव—माताजी क्या हम लोगों को भी राजा के आश्रित होकर रहना पड़ेगा ?

सीता— बच्चो वे तुम लोगों के पिता हैं।

लव—क्या रामचन्द्र हम लोगों के पिता हैं ?

सीता— (सशंक होकर) केवल तुम्हीं दोनों के नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के पिता हैं।

सोपहासा निगूढार्था नालिकेव प्रहेलिका ॥१६॥

नालिका—उपहासपूर्ण गूढ़ भाववाली पहेली को नालिका कहते हैं। १६॥

जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक में—चर—अरे ब्राह्मण कुपित मत होओ सभी सब-कुछ नहीं जानते कुछ तेरे गुरु जानते हैं और कुछ मेरे ऐसे व्यक्ति भी जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध के साथ) क्या तू गुरुजी की सर्वज्ञता नष्ट करना चाहता है ?

चर—अरे ब्राह्मण यदि तेरा गुरु सब-कुछ जानता है तो बताए चन्द्र किसको प्रिय नहीं है ?

शिष्य—मूर्ख इस बेकार की बातों की जानकारी की क्या आवश्यकता ?

इन बातों को सुनकर चाणक्य समझ गया कि इसके (चर के) कहने का तात्पर्य यह है कि मैं चन्द्रगुप्त के शत्रुओं को जानता हूँ।

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः ।

असत्प्रलाप—असम्बद्ध बे-सिर-पैर की बात कहने को असत्प्रलाप कहते हैं।

स्वप्न में बरति हुए की पागल की उन्मत्त की और शिशु आदि की कही हुई ऊँटपटांग बातें इसमें आती हैं।

जैसे— 'वासुकि सर्प के मुँह में हाथ डालकर मुँह को फैलाकर विष से विभिन्न दाँतों को अंगुली से एक-एककर एक तीन नव सात का इस प्रकार से क्रमरहित गिनी जाती हुई भगवान् स्वामि कार्तिकेय की बाल्यावस्था की तोतली बोली आप लोगों की रक्षा करे।

अथवा जैसे—"राजा हाथ जोड़कर दूत से कहता है—हे दूत मेरी जिस प्यारी की बात तुमने चुरा ली है उसे मुझे लौटा दो क्योंकि चोर के पास यदि चोरी की हुई एक भी वस्तु मिल जाए तो उसे पूरे को लौटाना पड़ता है।"

अथवा जैसे—कोई प्रलापी कह रहा है—

"मैंने पर्वतों को खाया है, मैंने अग्नि में स्नान भी किया है इसके अलावा ब्रह्मा विष्णु और शिव ऐसे पुत्रों को भी पैदा किया है। बस इसी खुशी में आनन्द के साथ नाच रहा हूँ।

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकर वच ॥२ ॥

व्याहार—दूसरे की प्रयोजन सिद्धि के लिए हास्यपूर्ण और लोभजनक वचन बोलने को व्याहार कहते हैं ॥ २ ॥

जैसे 'मालविकाग्निमित्र' में लास्य के प्रयोग के बाद मालविका जाना चाहती है, उसको जाते देख विदूषक कहता है—अभी नहीं थोड़ी देर इनके उपदेश सुनकर जाओ। यहाँ से शुरू करके [गणदास और विदूषक के उत्तर-प्रत्युत्तर पर्यन्त] गणदास विदूषक से कहता है—आर्य यदि आपने इनके इस कार्य में कोई क्रमभेद पाया हो तो कहिए।

विदूषक—सर्वप्रथम ब्राह्मण की पूजा का विधान है इसका अवश्य इन्होंने उल्लंघन किया है।

यह सुनकर मालविका हँसने लगती है। यहाँ पर हास्य और लोभ कारी वचन कहे जाने का मुख्य उद्देश्य नायक को विश्रब्ध नायिका का दर्शन कराना है, अतः यह व्याहार है।

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत्।

मृदव—जहाँ दोष को गुण और गुण को दोष बताया जाता हो ऐसे वर्णन को मृदव कहते हैं।

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में सेनापति महाराज दुष्यन्त से कहता है—महाराज यह आश्चर्य की बात करता है। महाराज आप स्वयं इस आखेट का गुण देख ही रहे हैं—

'आखेट से चर्बी घट जाती है तोंद छोटी हो जाती है शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है (चुस्ती आ जाती है) पशुओं के मुँह पर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान होता है और चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने से हाथ सध जाता है। लोग व्यर्थ में ही आखेट को बुरा कहते हैं। भला इतना मनोविनोदन और कहाँ मिल सकता है ?'[1]

और भी जैसे— 'इस बिचारे राजा पर तो जरा दृष्टिपात करिए, इसका चित्त राज्य आदि के झंझटों में पड़कर सर्वदा अशान्त बना रहता है और यह अनेक प्रकार के परिश्रम के कारण कष्ट सहता रहता है। चिन्ता के मारे इसे रात को भरपेट नींद भी नहीं आती। यह राज्य के मामलों में इतना सशंक रहता है कि किसी पर विश्वास नहीं करता।

यहाँ राज्य के गुण को दोष-रूप में वर्णन किया गया है।

अब एक ही पद्य में दोनों बातें अर्थात् दोष को गुण और गुण को दोष बताया जाता है—

सदाचार का पालन करनेवाले महात्मा लोग सर्वदा आपत्तियों में ही पड़े रहते हैं। और सदा इस बात से सशंकित रहते हैं कि कहीं कोई उनके चरित्र में दोष न निकाल दे। उनका जीवन ही सतत परोपकारपरायण रहने के कारण दुःखमय बना रहता है। इससे तो अच्छा साधारण पुरुष का जीवन है—मूर्खों को कुछ अच्छा हुआ तो बुरा हुआ तो उन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता। इसलिए मेरी दृष्टि में क्या युक्त है, क्या अयुक्त है इस ज्ञान से मुक्त व्यक्ति ही धन्य है और उसका ही जीवन सुखकर है।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥२१॥
प्रस्तावमान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

उपर्युक्त बताए हुए वीथी के अंगों में से किसी एक के द्वारा अर्थ

[1] यहाँ पर आखेट का दोष गुण रूप से वर्णित है।

और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में सूत्रधार को चला जाना चाहिए। और उसके बाद कथावस्तु का अभिनय आरम्भ हो जाना चाहिए ॥२१॥

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥२२॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥२३॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। नायक के अन्दर अच्छे-अच्छे गुण, प्रताप और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा, महान् उत्साह-सम्पन्न और वेद का रक्षक होना चाहिए। इसके अलावा उसका जन्म उच्च वंश में होना चाहिए। नाटक का नायक राजा या राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए ॥२२-२३॥

ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त नायक जिस प्रसिद्ध कथा में हो वही कथा नाटक की आधिकारिक कथा कही जाती है।

जिस इतिवृत्त (कथावस्तु) में सत्यवादिता, कीर्तिस्पृहा, श्रेष्ठ नीतिमत्ता आदि से युक्त राजा, राजर्षि या दिव्य पुरुष का चरित वर्णन हो उसी प्रधान कथा को नाटक की प्रधान कथावस्तु रखना चाहिए। इसके अलावा एक शर्त इसमें यह भी है कि उस कथा का वर्णन रामायण या महाभारत में अवश्य हुआ हो तभी वह और गुणों से युक्त होते हुए नाटक की प्रधान कथावस्तु हो सकती है।

यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

उस कथावस्तु के भीतर यदि कहीं नायक के गुण या नाटकीय रस का विरोधी वृत्तान्त दिखाई देता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए अथवा यदि उसे वर्णन करने की इच्छा ही हो तो उसे ऐसे ढंग से वर्णन करे ताकि विषमता न लक्षित होती हो ॥२४॥

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक के प्रणेता ने अपने नाटक में छल के साथ बालि के वध का वृत्तान्त हटा दिया है। और 'महावीरचरित' नाटक में तो कवि ने इस प्रकार से वर्णन किया है कि बालि रावण का मित्र था और राम रावण युद्ध में रावण की तरफ से राम से लड़ने गया था पर स्वयं मारा गया। इस प्रकार यहाँ पर कथा को ही अन्यथा करके वर्णन किया गया है।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥२५॥

खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत्।

नाटक की रचना करते समय आदि और अन्त का निश्चय कर आधिकारिक कथा को पाँच भागों में विभक्त कर प्रत्येक खण्डों की सन्धि संज्ञा देनी चाहिए। उसके बाद पाँचों खण्डों (संधियों) में से प्रत्येक को अनेक भागों में बाँट देना चाहिए ॥२५॥

अनुचित और विरोधी रसों को छोड़कर शुद्ध सुन्दर और दर्शनीय वस्तुओं का विन्यास फल के अनुसार विहित बीज बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य इनको आरम्भ यत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति फलागम इन पाँच अवस्थाओं के अनुकूल पाँच सन्धियों में विभक्त करना चाहिए।

चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ॥२६॥

पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसंधिभिः।

इसके बाद संधियों के प्रत्येक भाग को बारह तेरह चौदह इत्यादि भागों में विभक्त करना चाहिए। इस प्रकार से संधियों के ६४ अंग होते हैं ॥२६॥

ऊपर आधिकारिक कथा की बात आ चुकी है अब कथावस्तु का दूसरा भेद अर्थात् प्रासंगिक कथा के बारे में बताते हैं।

अङ्गान्यत्र यथालाभमसंधिं प्रकरीं न्यसेत् ॥२७॥

प्रासंगिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है—१ पताका और २ प्रकरी। पताका में प्रधान (आधिकारिक) कथावस्तु की अपेक्षा कुछ

(एक, दो या तीन) कम संधियों की रखना चाहिए। और प्रकरी में तो इतिवृत्त के प्रति अल्प होने के कारण संधि की योग्यता ही नहीं है ॥२७॥

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः।

इस प्रकार से कथा विभाग आदि कर चुकने के बाद प्रस्तावना के अनंतर काव्य-व्यापार को ध्यान में रखकर युक्ति के साथ आदि में विष्कम्भक या अंक की रचना करे।

विष्कम्भक और अंक की रचना किस प्रकार से होनी चाहिए, इस बात को बताते हैं—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥२८॥

यदा संदर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२९॥

आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः।

वस्तु के उस विस्तृत भाग को जो अपेक्षित भी हो और नीरस भी हो, छोड़कर अवशिष्ट अपेक्षित भाग से विष्कम्भक की रचना होनी चाहिए। और जहाँ पर सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख में की गई सूचना का आश्रय लेकर अंक की रचना करनी चाहिए ॥२८-२९॥

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥३०॥

अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः।

अंक — इसमें नायक के कार्यों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। वह बिन्दु के लक्षण से युक्त तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन का करनेवाला तथा रस का आश्रय होता है। रस के आश्रय होने के कारण इसका नाम अंक पड़ा है ॥३ ॥

इसके अंक नामकरण का तात्पर्य यह है कि जैसे उत्संग (गोद) किसी बच्चे के बैठने के लिए आश्रय होता है, वैसे ही यह (अंक) भी रसों के बैठने (रहने) के लिए आश्रय होता है, इसीसे इसको अंक कहते हैं।

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१॥

गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

इसमें भी विभाव अनुभाव व्यभिचारीभाव तथा स्थायीभावों के द्वारा अंगी (प्रधान) रस को पुष्ट करना चाहिए। कारिका में 'अंगिनः' पद आया है इसका अर्थ है 'अंगी रस का स्थायीभाव'। 'गृहीतमुक्तैः' का अर्थ है, 'परस्पर मिले हुए'। 'स्थायिना' का अर्थ 'अन्य रस का स्थायी' होता है ॥३१॥

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२॥

रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः ।

नाटकों को रसपूर्ण तो होना ही चाहिए, पर रस का इतना आधिक्य न होना चाहिए कि कथावस्तु का प्रवाह ही विच्छिन्न हो जाए और इसी प्रकार नाटक रचना में वस्तु और अलंकार तो रहना चाहिए पर ऐसा न हो जाए कि वस्तु और अलंकार के ही चक्कर में पड़कर रस ही गायब (नष्ट) हो जाए ॥३२॥

एको रसोऽङ्गीकर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा ॥३३॥

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

नाटक में प्रधानता एक ही रस की होनी चाहिए, वह चाहे शृंगार हो या वीर ॥३३॥

[तात्पर्य यह है कि नाटक-भर में केवल एक रस की प्रधानता होती है] और नाटक में आये हुए अन्य रसों को प्रधान रस के अंग रूप में ही रखना चाहिए। इसके अलावा नाटक में जहाँ निर्वहण संधि का स्थल हो वहाँ पर अद्भुत रस की रचना होनी चाहिए।

प्रश्न—यदि कोई यह कहे कि पहले ३१वीं कारिका में 'स्थायिना' (स्थायी के द्वारा) आया है उसका तो अर्थ अन्यरस का स्थायी होता है इसलिए इस ३३वीं कारिका के द्वारा अन्य रसों को प्रधान रस का अंग होना चाहिए, यह बात कही जा चुकी है फिर यहाँ पर ३३वीं

कारिका में फिर "अङ्गमन्येरसा सर्वेकुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्" इत्यादि से उसी बात को दोहराने से क्या लाभ है ?

उत्तर—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि दोनों स्थानों पर अलग-अलग लिखे जाने का भाव भी अलग-अलग है—जहाँ पर अन्य रस का स्थायीभाव अपने विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव प्रादुर्भूत हो वहाँ अन्य रसों को प्रधान रस की अंगता प्राप्त होती है अन्यथा केवल स्थायी रहने पर तो व्यभिचारी भाव ही रहता है।

नाटक में निम्नलिखित बातों को नहीं दिखलाना चाहिए—

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥३४॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥३५॥

दूर का रास्ता वध युद्ध राज्य-विप्लव देश-विप्लव आदि और दूसरे राजा से किया गया नगर का घेरा, भोजन, स्नान सुरत अनुलेपन और वस्त्रधारण करना इत्यादि इन सब बातों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए, किन्तु प्रवेशक आदि के द्वारा सूचित कर देना चाहिए। ॥३४-३५॥

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

इतिवृत्त के प्रधान नायक की वध दिखाने की बात दूर रही, प्रवेशक आदि से भी उसकी सूचना न होनी चाहिए और आवश्यकीय देवकार्य पितृकार्य आदि को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। उनका दिखाना आवश्यक है।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥३६॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एक अङ्क में प्रयोजन से सम्बन्धित एक ही दिन की कथा होनी चाहिए। तथा नायक को भी अंक में अवश्य उपस्थित रखना चाहिए ॥३६॥

नायक के अतिरिक्त तीन या चार पात्रों को रहना चाहिए। अन्त में सबको (यहाँ तक कि नायक) को भी निकल जाना चाहिए।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥३७॥

एवमङ्कः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः।

पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥३८॥

इसी प्रकार यथोचित स्थान पर पताकास्थानक तथा बीज के ही सदृश बिन्दु को भी रखना चाहिए। बिन्दु की रचना अंकों के अन्त में होनी चाहिए। इस प्रकार से प्रवेशक आदि के साथ अंकों की रचना करनी चाहिए। नाटक कम-से-कम पाँच अंकों का तथा अधिक-से-अधिक दस अंक का होना चाहिए ॥३७-३८॥

इसके बाद प्रकरण-नामक रूपक भेद को बताते हैं—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।

अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥३९॥

धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।

शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥४०॥

प्रकरण— इसकी कथावस्तु लौकिक तथा कल्पित होती है। इसका नायक धीरशान्त होता है। इसके नायक ब्राह्मण मन्त्री वैश्य इनमें से कोई एक होते हैं। इसका नायक धर्म अर्थ काम और मोक्ष में तत्पर रहता है। यह (नायक) विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए अपनी इच्छा पूर्ति में लगा रहता है। इसमें (प्रकरण में) शेष बातें जैसे सन्धि प्रवेशक तथा रस आदि को नाटक के समान ही रखा जाता है ॥४०॥

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।

क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥४१॥

कुलजाभ्यन्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः।

आभिः प्रकरणं त्रेधा संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ॥४२॥

प्रकरण में नायक की परिणीता, कुलजा दोनों प्रकार की नायिका विहित हैं। कहीं पर कुलजा (कुलीन) कहीं पर गणिका और कहीं पर दोनों ही नायक की नायिका होती हैं। प्रकरण में तीन ही प्रकार की नायिकाएँ हो सकती हैं। इससे अधिक भेद नहीं किया जा सकता। इस नियम का उल्लंघन कदापि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रकरण के कुल तीन भेद हुए—पहला जिसमें कुलकन्या नायिका होती है, यह शुद्ध भेद हुआ। जिसमें गणिका हो वह विकृत तथा जिसमें दोनों हों उसे संकीर्ण कहते हैं ॥४१ ४२॥

अर्थ पैदा करना ही जिसके जीवन का प्रधान धर्म है उसे वेश्या कहते हैं इसीमें कुछ और विशेषता आ जाती है तो गणिका शब्द से अभिहित हो जाती है। जैसे कहा भी है—

सामान्य वेश्याओं में श्रेष्ठ रूप शील और गुणों से युक्त वेश्या समाज के द्वारा गणिका शब्द की ख्याति को प्राप्त करती है।

जैसे—'तरंगदत्त' की नायिका वेश्या है 'पुष्पदूतिका' और 'मालती माधव' की नायिकाएँ कुलजा हैं तथा 'मृच्छकटिक' की नायिका दोनों (कुलजा और वेश्या) दोनों है अर्थात् संकीर्ण है। 'मृच्छकटिक' की नायिका वसन्तसेना जन्म से वेश्या है पर उसका आचरण कुलजा-सा है। वह वेश्या कर्म से घृणा करती है और अपना जीवन एक कुलीन सती नारी की तरह आर्य चारुदत्त से विवाह कर बिताना चाहती है। अतः इसमें दोनों का मिश्रण होने से संकीर्णता है। 'मृच्छकटिक' में धूर्त जुआरी विट चेट आदि भरे हैं। ऐसे संकीर्ण प्रकरण में धूर्त जुआरी विट आदि का वर्णन करना आवश्यक है।

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र संकीर्णान्यनिवृत्तये।

नाटिका—नाटक और प्रकरण से मिश्रित रूपक को नाटिका कहते हैं। नाटिका उपरूपकों के १८ भेदों में का प्रथम भेद है। नाटक और प्रकरण के मिश्रणों में से यदि कोई समझा जाए तो नाटिका ही एक मात्र संकीर्ण भेद है। अन्य उपरूपक (प्रकरणिका) नहीं। वह अन्य उप

रूपको की निवृत्ति के लिए अन्य उपरूपकों के साथ इसे न रखकर नाटक और प्रकरण के बाद ही इसे रखा गया।

कुछ लोगो का विचार है कि "नाटक और प्रकरण के मिश्रित" नाटिका और प्रकरणिका दो भेद होते हैं पर अगर मिश्रित करके समझा जाए तो प्रसिद्ध नाटिका ही है प्रकरणिका नही।

यद्यपि उपर्युक्त भरतमुनि-विरचित श्लोक की 'नाटी' संज्ञावाले काव्य के दो भेद होते हैं। उसमे का एक भेद प्रसिद्ध है जिसे नाटिका शब्द से कहा जाता है और दूसरा भेद प्रकरणिका है। इस प्रकार की व्याख्या कुछ लोग करते हैं सो ठीक है। कारण यह है कि लक्षण और लक्ष्य ये दोनो जब तक न मिलें तब तक चीज प्रामाणिक नहीं मानी जाती है। प्रकरणिका कह देने मात्र से उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है जब तक उसका लक्षण नहीं न घटे।

नाटिका और प्रकरणिका दोनो का समान लक्षण होने से दोनो मे कोई भेद नहीं है। अगर कोई कहे कि प्रकरणिका और प्रकरण मे वस्तु, रस और नायक एक ही जैसे होते हैं अतः प्रकरणिका ही मानना ठीक है। तो इसका उत्तर यह है—तो फिर प्रकरण के अतिरिक्त प्रकरणिका को अलग मानना व्यर्थ है क्योंकि दोनो एक ही चीज हैं। इसलिए नाटिका का नाम पृथक न गिनाने पर भी भरतमुनि न का लक्षण किया है उसका अभिप्राय यह है— शुद्ध लक्षण के सकर से ही सकीर्ण का लक्षण स्वत सिद्ध था फिर भी सकीर्ण का लक्षण भरतमुनि ने जो बनाया वह व्यर्थ पड़ता है और व्यर्थ पड़ कर ज्ञापन करता है कि सकीर्णों म यदि किसी की गणना हो तो बस नाटिका की ही।

नाटक प्रकरण के मेल से कैसे प्रकरणिका बनती है इस बात को बताते है—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृप ॥४३॥

प्रख्यातो धीरललित शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षण ।

नाटिका का इतिवृत्त प्रकरण से और नायक राजा आदि नाटक से

लेना चाहिए। नायक को ख्यातिवंश तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त और ललित होना चाहिए। नाटिका में प्रधान रस शृंगार को ही रखना चाहिए ॥४३॥

नाटक प्रकरण और नाटिका इन तीनों से वस्तु आदि के द्वारा प्रकरणिका में कोई भेद नहीं है। अर्थात् इन तीनों में आनेवाली वस्तुओं के अतिरिक्त प्रकरणिका में कोई भी विशेषता नहीं रह जाती। अत: उसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥४४॥
एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता।

यदि कोई इस प्रकार से कहे— 'अंक आदि के भेद से प्रकरणिका को नाटिका से अलग मानना चाहिए, क्योंकि नाटिका में स्त्रियों की प्रधानता रहती है और कैशिकी वृत्ति होती है और विमर्श सन्धि प्रतिमुख तथा गर्भ चारों सन्धियाँ रहती हैं। तो इसका उत्तर यह है कि यदि अंक पात्र आदि के न्यूनाधिक्य से भेद मानने लगेंगे तब तो रूपकों के भेद की कोई सीमा ही नहीं रह जाएगी और ऐसा होने से बड़ा अनर्थ होगा। अत: प्रकरणिका को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥४४॥

नाटिका में और कौन-कौनसी विशेषता होती है या रहती है इस बात को बताते हैं—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥४५॥
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥४६॥
अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥४७॥
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः।
कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥४८॥

नायिका में महारानी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है। बड़ी ज्येष्ठा होती है। उसका स्वभाव गम्भीर होता है और वह पग-पग पर मान करनेवाली होती है। द्वितीय नायिका भी महारानी के ही वंश परिवार की रहती है और उसके साथ नायक का मिलन कठिनाई के साथ हुआ करता है। नायक की दूसरी नायिका जिसके प्रेम में वह दीवाना बना रहता है वह भी राजकुमारी ही होती है। इसका रूप अत्यन्त सुन्दर और मन को मोह लेनेवाला होता है। अवस्था की दृष्टि से यह मुग्धा होती है। इसका सम्बन्ध राजमहल से लगा रहता है। अन्तःपुर में उसके गाने आदि के देखने-सुनने से आकृष्ट हुआ नायक पहली नायिका महारानी से छिपकर डरते-डरते उससे प्रेम करता है। यह प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। कैशिकी वृत्ति के चारों अंगों से नाटिका के चारों अंकों से रचना करनी चाहिए। नाटिका के भीतर चार अंक होने चाहिए ॥४५ ४८॥

> भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
> यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥४९॥
> सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
> सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥५०॥
> भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम्।
> मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥५१॥

भाव—इसमें केवल एक ही पात्र होता है। यह कोई बुद्धिमान कार्यकुशल विट होता है। यह अपने तथा दूसरे के धूर्ततापूर्ण कार्यों का वर्णन करता है। इसका वर्णन वार्तालाप के रूप में होता है। यह किसी व्यक्ति की कल्पना करके उससे सम्बोधित करके कुछ कहता है और उसका मन से कुछ उत्तर बिठाकर फिर उसका उत्तर देता है। इस प्रकार सम्बोधन और उक्ति प्रत्युक्ति के कारण उसकी कल्पित व्यक्ति से बातचीत चलती है। इस प्रकार की बातचीत को 'आकाशभाषित'

रहते हैं। शौर्य और सौभाग्य के वर्णन द्वारा यह वीर और शृंगार रस को सूचित करता है। इसमें (भाण में) भारती वृत्ति की अधिकता रहती है। यह एक अंक का होता है और इसकी कथा कविकल्पित होती है। इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धि अपने अंगों के साथ रहती हैं।

इसके अलावा लास्य के निम्नलिखित दस अंग भी इसमें व्यवहृत होते हैं ॥५० ५१॥

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकं त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥५२॥
उत्तमोत्तमकं चैवमुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥५३॥

लास्य के अंग—ये दस अंग हैं—१ गेयपद २ स्थित पाठ्य ३ आसीन ४ पुष्पगण्डिका, ५ प्रच्छेदक ६. त्रिगूढ, ७ सैन्धव ८. द्विगूढ ९. उत्तमोत्तमक और १० उक्तप्रत्युक्त ॥५२ ५३॥

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसंकरैः ।

प्रहसन—भाण के ही समान प्रहसन भी होता है। भाण के ही समान इसमें कथावस्तु, सन्धि सन्धियों के अंग और लास्य आदि भी होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—१ शुद्ध, २ विकृत और ३ संकर।

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥५४॥
चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

शुद्ध प्रहसन—पाखण्डी, ब्रह्मचारी संन्यासी, तपस्वी, पुरोहित चेट चेटी और विट इनसे भरा हुआ रहता है। नायक तो सीधा ब्राह्मण ब्रह्मचारी सन्यासी, तपस्वी पुरोहित आदि हुआ करते हैं। इसका व्यापार चेट और चेटी के व्यवहार से युक्त होता है। इसमें अङ्गीरस (प्रधान रस) हास्य होता है। इसका उद्देश्य सामाजिकों के भीतर हास्य को पैदा करना रहता है ॥५४॥

कामुकादिवचोवेषैः षण्डकञ्चुकितापसैः ॥५५॥
विकृतं सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।
रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥५६॥

विकृत प्रहसन—इस प्रहसन में नपुंसक, कञ्चुकी और तपस्वी लोग कामुकों के वेष में तथा कामुकों की तरह बातचीत आदि व्यवहार करते दिखाए जाते हैं ॥५५॥

संकीर्ण—यह धूर्तों से भरा रहता है। इसमें वीथी के तेरहों अंग रहते हैं। वीथी के अंगों की संकीर्णता के कारण ही इसे संकीर्ण कहते हैं। इसमें रस की प्रचुरता रहती है और हास्य के छहों भेद होते हैं ॥५६॥

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥५७॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥५८॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥५९॥
चतुरङ्कश्चतुःसन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

डिम—डिम अर्थात् अनेक नायकों का संघात। इसकी कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसमें कैशिकी के अलावा शेष सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। इसके नेता देवता गन्धर्व यक्ष राक्षस महोरग भूत प्रेत पिशाच आदि सोलह होते हैं। इसमें हास्य और शृंगार के अलावा शेष छहों रसों का भी प्रयोग किया जाता है। यह माया, इन्द्रजाल संग्राम क्रोध उन्मत्त आदि की चेष्टाओं तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि बातों से भरा रहता है। इसमें चार अंक और चार ही सन्धियाँ होती हैं। विमर्श सन्धि इसमें नहीं होती। इसमें प्रधान रस रौद्र रहता है ॥५७-५९॥

'ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह में डिम' के इस लक्षण को कहा था। इसलिए त्रिपुरदाह को डिम कहा जाता है। भरतमुनि ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथा

वस्तु को डिम की तुलना में दिखलाया है अर्थात् डिम का उदाहरण त्रिपुरदाह है।

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६०॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायोग—इसकी कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। नायक इतिहास प्रसिद्ध और धीरोद्धत होता है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती। इसमें डिम के समान ही रसों का सन्निवेश होता है अर्थात् जो रस डिम में होते हैं वही इसमें भी रहते हैं। इसमें के सभी पात्र पुरुष होते हैं। इसमें युद्ध आदि भी स्त्री के लिए नहीं होता। इसमें एक ही अङ्क होता है और उसमें एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है। उदाहरणार्थ—

सहस्रार्जुन ने परशुराम के पिता जमदग्नि को मारा। पिता की मृत्यु की खबर सुनकर क्रुद्ध परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा। इसमें (व्यायोग में) पात्रों की बहुलता रहती है।

व्यायोग शब्द का शाब्दिक अर्थ—"जिसमें बहुत पुरुष लगे हुए हों ऐसे कार्य को व्यायोग कहते हैं। इसमें शृङ्गार और हास्य को छोड़कर शेष सब रसों का परिपाक डिम के सदृश होता है ॥६०-६१॥

समवकार—इसमें नाटक आदि के समान आमुख रहना चाहिए। इसकी कथावस्तु देवता और असुरों से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध होती है। विमर्श को छोड़ शेष चारों सन्धियाँ इसमें होती हैं। इसमें सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है किन्तु कैशिकी वृत्ति का प्रयोग कम ही मात्रा में होता है। इसके नायक देवता होते हैं और उनकी कुल संख्या बारह होती है। इनका चरित्र उदात्त होता है। साथ ही वे वीर भी होते हैं। इन बारहों नायकों को फल-प्राप्ति भी पृथक्-पृथक् ही होती है। जैसे

वस्तु को डिम की तुलना में दिखलाया है अर्थात् डिम का उदाहरण त्रिपुरदाह है।

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोग ख्यातोद्धतनराश्रय ॥६०॥

हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ता स्युर्डिमवद्रसा ।

अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१॥

एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरै ।

व्यायोग—इसकी कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। नायक इतिहास प्रसिद्ध और धीरोद्धत होता है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती। इसमें डिम के समान ही रसो का सन्निवेश होता है अर्थात् जो रस डिम मे होते हैं वही इसमें भी रहते हैं। इसमें के सभी पात्र पुरुष होते हैं। इसमे युद्ध आदि भी स्त्री के लिए नहीं होता। इसमे एक ही अङ्क होता है और उसमे एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है। उदाहरणार्थ—

सहस्रार्जुन ने परशुराम के पिता जमदग्नि को मारा। पिता की मृत्यु को खबर सुनकर प्रकुपित परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा। इसमें (व्यायोग में) पात्रो की बहुलता रहती है।

व्यायोग शब्द का शाब्दिक अर्थ—'जिसमे बहुत पुरुष लगे हुए हों ऐसे कार्य को व्यायोग कहते हैं। इसमे शृङ्गार और हास्य को छोड़कर शेष सब रसो का परिपाक डिम के सदृश होता है ॥६०-६१॥

समवकार—इसमे नाटक आदि के सदृश आमुख रहना चाहिए। इसकी कथावस्तु देवता और असुरों से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध होती है। विमर्श को छोड़ शेष चारो सन्धियाँ इसमे होती हैं। इसमे सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है किन्तु कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अल्प ही मात्रा मे होता है। इसके नायक देवता होते हैं और इनकी कुल संख्या बारह होती है। इनका चरित्र उदात्त होता है। साथ ही ये वीर भी होते हैं। इन बारहो नायकों की फल-प्राप्ति भी पृथक्-पृथक् ही होती है। जैसे

बाधा युद्ध विधातव्य तथा जयपराजयौ ।

अंक या उत्सृष्टिकांक—इसकी कथावस्तु प्रसिद्ध पर कवि-कल्पना द्वारा अति विस्तृत की हुई रहती है । इसमें स्त्रियों के विलाप आदि का वर्णन रहता है । इसमें करुण रस की प्रधानता रहती है । इसका नायक साधारण पुरुष होता है । जय और पराजय आदि का वर्णन इसमें रहता है । युद्ध केवल वाणी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है अर्थात् इसमें केवल वाग्युद्ध दिखाया जाता है । और बातें जैसे संधि वृत्ति और अंग इनको भाण के समान ही समझना चाहिए ॥७०-७१॥

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसंधिमत् ॥७२॥

नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।

ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥७३॥

दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।

शृङ्गाराभासमप्यस्य किंचित्किंचित्प्रदर्शयेत् ॥७४॥

संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।

वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥७५॥

ईहामृग—इसमें चार अंक तथा मुख प्रतिमुख और निर्वहण ये तीन संधियाँ होती हैं । इसके नायक और प्रतिनायक इतिहास-प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते हैं । इनकी प्रकृति धीरोद्धत होती है । प्रतिनायक दिव्यनायिका को चाहता है और जब वह उसे आसानी से प्राप्त नहीं होती तो हरण करने पर तुल जाता है । इसमें शृंगार रस का भी वर्णन थोड़ा-थोड़ा होना चाहिए । इसमें युद्ध की सब तरह से तैयारी हो चुकने पर भी किसी बहाने से टल जाती है अर्थात् युद्ध होते-होते बच जाता है । प्रकरणतः इसमें महापुरुष का वध यदि प्राप्त भी हो तो भी कदापि प्रदर्शित नहीं करना चाहिए । इसमें नायक हरिणी के समान अलभ्य नायिका को चाहता है अतः इसे ईहामृग कहते हैं ॥७२-७५॥

हरण जैसे—शत्रु के नगर घेरने या आक्रमण करने के कारण भगदड़ आदि का होना ।

दूसरे का उदाहरण जैसे—जल वायु, अग्नि आदि के द्वारा बाढ़ का आना, वर्षा का न होना, आग लग जाना आदि । तीसरे का उदाहरण जैसे—हाथी आदि के छूटने आदि से उत्पन्न उपद्रव का होना ।

इसी प्रकार शृंगार भी तीन प्रकार का होता है—१ धर्म शृंगार २ अर्थ शृंगार और ३ काम शृंगार ।

ऊपर बताए हुए तीनों प्रकार के विद्रव, तीनों प्रकार के कपट और तीनों प्रकार के शृंगार के भेदों को क्रमश: समवकार के तीनों अंकों में रखना चाहिए ।

समवकार शब्द का शाब्दिक अर्थ है "सब नायकों के प्रयोजन का एकत्र रहना ।" चूँकि समवकार रूपक में कई नायकों का प्रयोजन निहित रहता है, अत इसे भी समवकार कहते हैं ।

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥६८॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम् ।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ॥६९॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता ।

वीथी—इसमें कैशिकी वृत्ति होती है । संधियाँ और उनके अंग तथा अंक भाण के समान ही होते हैं । इसमें अन्य रसों का किंचित् स्पर्श रहते हुए भी प्रधानता शृंगार रस की ही रहती है । इसमें पात्र दो या एक होते हैं । पहले प्रस्तावना के भीतर जो वीथी के उद्घात्यक, अवलगित आदि अंग गिनाए हैं वे सभी इसमें होते हैं ॥६८-६९॥

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥७०॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गं युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ॥७१॥

# चतुर्थ प्रकाश

अब यहाँ से रस के भेदों को बताते हैं—

> विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
>
> आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥१॥

विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्टावस्था (स्वाद्यता) को प्राप्त किया हुआ स्थायीभाव रस कहा जाता है ॥१॥

आगे बतलाए जाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्त्विक भावों के द्वारा काव्य में वर्णन और अभिनय में प्रदर्शन देख काव्य पढ़नेवाला और अभिनय देखनेवाले सामाजिकों को अपने हृदय में रहनेवाले स्थायीभाव (जिसका वर्णन आगे किया जाएगा) जब स्वाद करने के योग्य हो जाते हैं तो उनकी रस की संज्ञा दी जाती है। स्वाद के योग्य बन जाने का अभिप्राय यह है कि काव्य पढ़ने और सुननेवालों और अभिनय देखनेवालों के चित्त में केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

यह परमानन्द काव्य और नाटक पढ़ने, सुनने और देखनेवाले सामाजिकों में हुआ करता है इसलिए सामाजिक रसिक कहे जाते हैं। इस प्रकार का आनन्द केवल चेतन के ही अन्दर हो सकता है। अचेतन काव्य आदि में वह रह नहीं सकता। काव्य को रस के पैदा करने में कारणता है न कि वह स्वयं ही रस है। 'रसवत् काव्यम्' 'रसवान् काव्य है' इस वाक्य में रसयुक्त काव्य का जो कथन है वह लाक्षणिक है। जैसे घृत की आयुर्वृद्धि में कारणता देख लोग 'आयुर्घृतम्' इस प्रकार

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥७६॥

॥ धनञ्जयकृत दशरूपक का तृतीय प्रकाश समाप्त ॥

इस प्रकार दशरूपकों के दसों भेदों के लक्षणों और उनके निर्माण के ढंग और वस्तु देखकर तथा महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन करके सरल छन्दों में कृत्रिमता रहित अलंकारों, उदार मधुर वाक्यों आदि के द्वारा प्रबन्ध की रचना होनी चाहिए ।।७६।।

विष्णुपुत्र धनिककृत दशरूपावलोक नामक व्याख्या का नाटक-प्रकाश नामक तृतीय प्रकाश समाप्त ।

आलम्बन विभाव का उदाहरण जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरूरवा उर्वशी को देखकर कहता है—'इसकी सृष्टि करने के लिए कौन प्रजापति (उत्पादक) हुआ होगा ? कांति का दाता चन्द्रमा अथवा शृंगार रस का एकमात्र रसिक स्वयं कामदेव किंवा वसन्त ऋतु ? क्योंकि वेद पढ़ने से जड़ और विषयों से जिसका कुतूहल शान्त हो गया है वह पुराना मुनि ब्रह्मा भला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?

उद्दीपन विभाव का उदाहरण जैसे—'जिसकी चाँदनी में सारा विश्व धोकर स्वच्छ कर दिया गया है और जिसकी प्रभा से सम्पूर्ण आकाशमण्डल कपूर के समान धवलित हो गया है तथा जिसकी चाँदी के सीधे-सीधे स्वच्छशलाका की स्पर्धा रखनेवाले चरणों (किरणों) द्वारा यह विश्व कमलदण्ड के बने हुए पिंजड़े के भीतर रखे हुए के समान प्रतीत होता है, ऐसे चन्द्रमा का उदय हो रहा है।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

अनुभाव—(१) आन्तरिक भावों की सूचना जिनसे मिलती है ऐसे (भ्रू कटाक्ष विक्षेप आदि) विकारों को अनुभाव कहते हैं।

(२) सामाजिकों को स्थायीभाव का अनुभव कराते हुए जो रस को परिपुष्ट करें ऐसे भौंहों का चलाना और कटाक्ष विक्षेप करने आदि को अनुभाव कहते हैं। ये रसिकों के साक्षात् अनुभवकर्म के द्वारा अनुभव किए जाते हैं इसलिए इनको अनुभाव कहते हैं।

(३) रति आदि स्थायीभावों के पश्चात् इनकी उत्पत्ति होती है अतः इनको अनुभाव कहते हैं।

आन्तरिक भावों की सूचना जिससे मिलती है ऐसे भ्रूकटाक्ष आदि विकारों को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव की यह परिभाषा जो दी गई है वह लौकिक रस की दृष्टि से की गई है। पर काव्य नाटकों के अलौकिक रसों के प्रति इन भ्रूकटाक्ष आदि की कारणता मात्र ही होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में भ्रूकटाक्ष विक्षेप आदि ही अनुभाव हैं। नाटक आदि में अभिनय करनेवाले नट इत्यादि भी भ्रूकटाक्ष विक्षेप आदि से

का प्रयोग करते हैं, ठीक उसी तरह से रस के विषय में भी 'रसवान् काव्य है' इस प्रकार का व्यवहार होता है। वस्तुतः काव्य रसवान् नहीं होता बल्कि होते हैं सामाजिक।

ज्ञायमानस्तया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥२॥

विभाव—ज्ञान के विषयीभूत हो जो भावों का ज्ञान कराएँ और भावों को परिपुष्ट करें उन्हें विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१ आलम्बन और २ उद्दीपन ॥२॥

यह ऐसा ही है यह ऐसी ही है' इस प्रकार का अतिशयोक्ति रूप में किया गया जो वर्णन और उससे उत्पादित विशिष्ट रूप से ज्ञायमान जो आलम्बन रूप नायक और नायिका और उद्दीपन रूप जो देश काल आदि उनको विभाव कहते हैं।

विभाव का ज्ञायमान अर्थ में जो व्यवहार किया गया है, इसमें प्रमाण है—भरत मुनि का "विभाव इति विज्ञातार्थ इति" यह वाक्य। इन वाक्यों को यथाक्रम उनके अवसर आने पर रसों में दिखाया जाएगा।

[क्या विभावादिकों में वस्तुशून्यता है?]

बाह्य सत्यों की अपेक्षा न रखनेवाले इन विभाव आदि का काव्य की उपाधि के बल से उन भावों का सामान्य रूप से अपने-अपने सम्बन्धियों के द्वारा साक्षात् भावकों के चित्त में स्फुरण कराते से आलम्बनत्व उद्दीपनत्व होता है। अतः इनमें वस्तुशून्यता का कोई स्थान ही नहीं है। इसी बात को भर्तृहरि ने भी कहा है—

शब्द की उपाधि से प्राप्त स्वरूप वाले जो विभाव आदि हैं वे बुद्धि के विषयीभूत होकर कंस राम दुष्यन्त आदि को प्रत्यक्ष के समान ज्ञान कराने में कारण होते हैं।

अवलोककार ने भी "ये विभाव आदि साधारणीकरण के द्वारा रस निष्पादन में साधन होते हैं" इस प्रकार से लिखा है।

नायक और नायिका में अन्तर्गत होनेवाले अनुभाव का अनुमान किया जाता है। इसलिए अलौकिक रस की दृष्टि में शृङ्गाराद विभाव आदि की केवल कल्पना है। लोक में ऐसी बात नहीं होती वहाँ तो नायक और नायिका प्रत्यक्ष ही रहते हैं अतः अनुमान करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनुभाव का उदाहरण जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—कोई दूती किसी अत्यन्त सुन्दरी नायिका से उसके रूप-सम्पदा की प्रशंसा करते हुए कहती है— हे मुग्धे तेरे मुँह पर बार-बार जँभाई आ रही है स्तन भाग बार-बार उल्लसित हो रहे हैं चञ्चल भौंहें बार-बार घूम रही हैं सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है अत्यधिक उत्सुकता के कारण लज्जा दूर हो गई है सारे शरीर में रोमाञ्च का प्रादुर्भाव हो गया है तू जिसके ऊपर क्षीरसिन्धु के स्वच्छ फेन के सदृश अपनी सुन्दर स्वच्छ कटाक्ष छटा को फेंकती है वह कोई अत्यन्त सुन्दर परम सौभाग्यशाली युवक धन्य है।

इत्यादि बातों को रसों के प्रसंग में उदाहरणों के द्वारा क्रमानुसार स्पष्ट किया जाएगा।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥१॥

लौकिक रस के प्रति विभाव और अनुभाव का आपस में हेतु और कार्य-सम्बन्ध है, अर्थात् लौकिक रस के प्रति विभाव तो हेतु और अनुभाव कार्य होता है। ये बातें व्यवहार से स्पष्ट होती हैं। इसीलिए इनका लक्षण से बतला देना ठीक नहीं है ॥१॥

कहा भी है— 'विभाव और अनुभाव लोक से ही सिद्ध हैं ये दिन-रात लौकिक व्यवहारों में आया करते हैं और लौकिक व्यवहारों के द्वारा जाने जा सकते हैं इसलिए इनका पृथक् लक्षण नहीं किया जा रहा है।

पृथक्भावा भवन्त्यन्ये...मनुभावत्वमन्विताः (?)

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

भाव—अनुकार्य (राम आदि) को आश्रय बनाकर वर्णित सुख-दुःख भावों के द्वारा भावक के चित्त के अन्तर्वर्ती तद्-तद् भावों के भावन को ही भाव कहते हैं।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥

व्यभिचारी का सामान्य लक्षण—जैसे समुद्र मे तरगें उठती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं उसी प्रकार से रति आदि स्थायीभावों मे जो भाव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं उनको व्यभिचारीभाव कहते हैं ॥७॥

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वा स्मृतिमरणमदा सुप्तनिद्राविबोधा ।
व्रीडापस्मारमोहा सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८॥

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेद स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनि श्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनता ॥९॥

ये ३३ प्रकार के होते हैं—१ निर्वेद २ ग्लानि ३ शका ४ श्रम ५ धृति ६ जडता ७ हर्ष ८ दैन्य ९ उग्रता १० चिन्ता ११ त्रास १२ असूया १३ अमर्ष १४ गर्व १५ स्मृति १६ मरण १७ मद १८ स्वप्न १९ निद्रा २० विबोध २१ व्रीडा २२ अपस्मार २३ मोह २४ मति २५ अलसता २६ आवेग २७ तर्क २८ अवहित्था २९ व्याधि ३० उन्माद ३१ विषाद ३२ औत्सुक्य और ३३ चपलता ॥८॥

निर्वेद—तत्त्वज्ञान आपत्ति ईर्ष्या आदि कारणों से मनुष्य का अपनी अवमानना करना निर्वेद कहलाता है ॥९॥

इसमे मनुष्य अपने शरीर तथा सभी लौकिक पदार्थों की अवहेलना करने लगता है। इस दशा मे चिन्ता नि श्वास उच्छ्वास अश्रु-विवर्णता और दैन्य ये लक्षण प्रकट होते हैं।

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद जैसे—

'अगर हमने सकल मनोरथों को सिद्ध करनेवाली लक्ष्मी को ही प्राप्त कर लिया तो उससे क्या हुआ ? अगर हमने सकल रिपुमण्डली

शंका—दूसरे की क्रूरता या अपने ही दुर्व्यवहारों से अपनी इष्ट हानि की जो आशंका पैदा होती है उसे शंका कहते हैं। इसमें शरीर का कांपना और सूखना, चिन्तायुक्त दृष्टि-विक्षेप, विवर्णता और स्वर-भेद आदि लक्षण लक्षित होते हैं ॥१६॥

दूसरे की क्रूरता के कारण होनेवाली शंका जैसे 'रत्नावली' नाटिका में महाराज उदयन रत्नावली के बारे में कह रहे हैं—"वह इस बात से शंकित रहती हुई कि कहीं ये लोग राजा के साथ चलनेवाले मेरे प्रेम-बर्ताव को जानते न हों, लज्जावश मुँह को छिपाए रहती है। और जब दो या तीन लोगों को आपस में बातचीत करते हुए देखती है तो सोचती है कि शायद ये लोग हमारे ही विषय में कानाफूसी न करते हों। इसी प्रकार से हँसती हुई सखियों को देख भी वह शंकित हो जाती है कि ये सब मेरे इसी सम्बन्ध में हँस रही हैं। इस प्रकार से मेरी प्रियतमा रत्नावली (सागरिका) हृदय-प्रदेश में रखे हुए आतंक से पीड़ा पा रही है।

अपने दुर्व्यवहार से होनेवाली शंका जैसे 'महावीरचरित' में—जिसने पर्वताकार शरीरवाले ताड़का, सुबाहु आदि राक्षसों का प्रहार किया है वही राजकुमार मेरे हृदय के लिए सन्तापकारी हो गया है।

इसी प्रकार से अन्यों को भी समझ लेना चाहिए।

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः।

*श्रम*—मार्ग, रति आदि कारणों से जो थकावट उत्पन्न होती है उसे श्रम कहते हैं। इसमें पसीना आना, अवयवों में दर्द आदि का होना आदि बातें होती हैं।

रास्ते के परिश्रम से होनेवाला श्रम जैसे 'उत्तररामचरित' में—राम सीता से कहते हैं—तुम मार्ग में चलने के परिश्रम से आलस्ययुक्त, कोमल और सुन्दर, इन आलिंगनों से ढीले पड़े और परिमर्दित कमल की नलिका के सदृश भुजलताओं को मेरी छाती पर रखकर सो गई थीं।

खिलाने लगी और साथ ही अति आदरवश अपने आँचल से उस ऊँट के बच्चे के कंधों पर लगी हुई धूल को धीरे-धीरे पोंछने लगी।

निर्वेद की तरह इसकी (हर्ष की) और बातों को भी जान लेना चाहिए।

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं काष्र्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥

दैन्य—दरिद्रता और तिरस्कार आदि से होनेवाली चित्त की उदासीनता का नाम दैन्य है। इस दशा में मनुष्य के चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है और वस्त्रों की मलिनता आदि बातें देखी जाती हैं ॥१४॥

जैसे कोई बूढ़ी सास कह रही है—"मेरे पति एक तो वृद्ध दूसरे अन्धे ठहरे अतः केवल मचान पर ही पड़े रहते हैं उनमें धनोपार्जन का अब पुरुषार्थ रह नहीं गया है। घर में केवल धूल ही मात्र बच पाया है। और इधर बरसात का समय भी आ गया है। लड़का कमाने के लिए परदेश गया पर कुछ भेजना तो दूर की बात रही अभी तक उसने कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं भेजी। बड़े यत्न के साथ मैंने एक गगरी तेल भरके रखा रहा सो भी दैव दुर्विपाक से फूटकर बह निकला अब क्या करूँ ? कवि कहता है कि सास अपनी धर्मभार से अलसाई हुई पुत्रवधू को देख ऊपर कथित बातों को सोच-सोचकर बहुत देर से रो रही है।

और बातों को पहले ही के समान समझना चाहिए।

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥

उग्रता—किसी दुष्ट के दुष्कर्म दुर्वचन क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रचण्ड हो जाने को उग्रता कहते हैं। इसमें देह का आना कटुवचन बोलना सिर कँपना दूसरे को मारने पर उतारू होना और तर्जनता आदि पाया जाता है ॥१५॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम—"क्षत्रियों पर प्रकुपित हो मैंने इक्कीस बार उनका संहार किया और संहार करते समय उनके गर्भ में

निकाले सभी और साथ ही प्रति-आदरवश अपने आँचल से उस ऊँट के बच्चे के नथनों पर लगी हुई धूल को धीरे धीरे पोंछने लगी।"

निर्वेद की तरह इसकी (हर्ष की) और बातों को भी जान लेना चाहिए।

**दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥**

दैन्य—दरिद्रता और तिरस्कार आदि से होनेवाली चित्त की दशा हीनता का नाम दैन्य है। इस दशा में मनुष्य के चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है और वस्त्रों की मलिनता आदि बातें देखी जाती हैं ॥१४॥

जैसे कोई वृद्धा सोच रही है— "मेरे पति एक तो वृद्ध दूसरे अन्धे ठहरे अतः केवल मचान पर ही पड़े रहते हैं उनमें धनोपार्जन का अब पुरुषार्थ रह नहीं गया है। घर में केवल खम्भे ही मात्र बच पाया है। और इधर बरसात का समय भी आ गया है। लड़का कमाने के लिए परदेश गया पर कुछ भेजना तो दूर की बात रही अभी तक उसने कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं भेजी। बड़े यत्न से साथ मैंने एक गगरी तेल भरके रखा रहा सो भी दैव दुर्विपाक से फूटकर बह निकला अब क्या करूँ"? कवि कहता है कि सास अपनी गर्भभार से अलसाई हुई पुत्रवधू को देख ऊपर कथित बातों को सोच-सोचकर बहुत देर से रो रही है।

और बातों को पहले ही के समान समझना चाहिए।

**दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।**
**तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥**

उग्रता—किसी दुष्ट के दुष्कर्म दुर्वचन क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रचण्ड हो जाने को उग्रता कहते हैं। इसमें स्वेद का आना कटुवचन बोलना सिर कँपाना दूसरे को मारने पर उतारू होना और तर्जनता आदि पाया जाता है ॥१५॥

जैसे महावीरचरित में परशुराम—"क्षत्रियों पर प्रकुपित हो मैंने इक्कीस बार उनका संहार किया और संहार करते समय उनके मर्म में

पड़े हुए बच्चों को भी कुरेद-कुरेदकर मार डाला और क्षत्रियों के रक्त से भरे हुए तालाबों में मैंने अपने पिता के श्राद्ध संस्कार को सम्पन्न किया। इस प्रकार के मेरे कर्मों को देखते हुए भी मेरा स्वभाव क्या अभी तक प्राणियों से अविदित ही है?

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्।

चिन्ता—इष्ट वस्तु के न प्राप्त होने पर तत्सम्बन्धी विषय में ध्यान बने रहने का नाम चिन्ता है। इसमें पदार्थ के न मिलने से जीवन का शून्य मालूम होना, सांस का जोर से चलना, शारीरिक ताप का बढ़ जाना आदि बातें पाई जाती हैं।

चिन्ता—जैसे कोई दूती प्रियतम के वियोग से दुखी किसी प्रोषित-पतिका से कह रही है—"हे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली तुम अपनी पलकियों के अग्रभाग में मोती की स्पर्धा करनेवाले स्वच्छ आँसुओं को भरकर और हृदय में भगवान् शंकर की हँसी के समान स्वच्छ मनोहर हारों को पहनकर, तथा कोमल-कोमल कमलनाल के वलय (विजायठ) वाले अपने सुन्दर हाथों के ऊपर मुख को रखकर किस परम सौभाग्यशाली के विषय में सोच रही हो?

अथवा यह दूसरा उदाहरण—

'हट गया है विषय-वासनाओं से मन जिनका और बन्द हो गए हैं कमल के समान नेत्र जिनके बार-बार चल रही है श्वास-प्रश्वास क्रिया जिनमें इस प्रकार की अलक्ष्य वस्तु का ध्यान करनेवाली बाला की दशा योगी के समान हो गई। [योगियों की तरह नेत्रों को मूँदकर बार बार सिसकती हुई एकमात्र प्रियतम के विषय में सोच रही है।]

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥१६॥

त्रास—बादल के गर्जन तथा ऐसी ही अन्य भयप्रद घटनाओं से जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे त्रास कहते हैं। इसमें कम्प आदि का पाना देखा जाता है ॥१६॥

यथा माघ में—

चंचल गोठी (प्रोष्ठी) मछली किसी सुन्दरी के उरु मूलम में एक बार छू गई। डरकर वह रमणी नाना प्रकार की भंगिमियाँ दिखाने लगी। आश्चर्य है कि रमणियाँ बिना कारण विलासलीला में क्षुब्ध हो जाती हैं तो फिर कोई कारण मिल जाय तो फिर क्या कहना?

परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा।

दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७॥

असूया—दूसरे की उन्नति न सह सकने का नाम असूया है। इसमें दूसरे के अन्दर दोष निकालना अथवा क्रोध भौंह का चढ़ना तथा अन्य क्रोधसूचक चेष्टाएँ दिखाई देती हैं। यह तीन कारणों से हो सकती है १ गर्व से २ दुष्ट स्वभाव से तथा ३ क्रोध से ॥१७॥

गर्व से होनेवाली असूया जैसे 'वीरचरित' में—कोई राक्षस किसी से कह रहा है—

मेरे स्वामी रावण ने सीतारूपी फल की प्राप्ति के लिए भिक्षुक बनकर याचना भी की पर वह वस्तु न मिलकर स्वामी के विरुद्ध आचरण करनेवाले राम को मिल गई। अब यह बात समझ में नहीं आती कि शत्रु के मान और यश की वृद्धि और अपने ह्रास को तथा स्त्रियों में रत्न उस सीता को दूसरे के हाथ में देख संसार के स्वामी रावण कैसे बर्दाश्त कर सकेंगे।

दुष्ट स्वभाववश होनेवाली असूया जैसे—

"यदि तुझे दूसरे के गुणों को देख ईर्ष्या पैदा होती है तो फिर गुणों का ही उपार्जन क्यों नहीं करता? हाँ इतना समझ रखो कि तुम दूसरे के यश को निन्दा के द्वारा धो नहीं सकते। अगर तुमने अपनी इच्छा से अकारण ही दूसरे से द्वेष करना नहीं छोड़ा तो तुम्हारा परिश्रम वैसे ही बेकार हो जाएगा जैसे सूर्य की किरणों को रोकने के लिए हाथरूपी छाते का प्रयास।

क्रोध से होनेवाली असूया, जैसे 'अमरुशतक' में—

गदा को घुमाते हुए तथा कौरवों का संहार करते हुए आज एक दिन के लिए न तो आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं और न मैं आपका कनिष्ठ भाई।

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।

कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१९॥

मद—अपने श्रेष्ठ कुल सुन्दरता ऐश्वर्य पराक्रम आदि से होनेवाले मद को गर्व कहते हैं। दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखना तथा अपमान आदि करना इस अवस्था मे देखे जाते हैं। साथ ही गर्वित पुरुष में विलासपूर्वक अपने अंगों को देखने की बात भी पाई जाती है ॥१९॥

जैसे 'महावीरचरित' म—रामचन्द्र परशुराम के आने पर भय विह्वल क्षत्रियो को सम्बोधित करते हुए कहते हैं— हे क्षत्रियो डरकर कांपना छोड दो निर्भय हो जाओ क्योकि मुनि के साथ-साथ ये वीर भी हैं ऐसे पुरुष का सम्मान मुझे प्रिय लगता है। तपस्या के बारे म फैली हुई है कीर्ति जिनकी और बल के दर्प से फुदक रही हैं भुजाएँ जिनकी ऐसे परशुरामजी का सत्कार करने मे मैं रघुकुलोत्पन्न रामचन्द्र नाम का व्यक्ति समर्थ हूँ।

अथवा जैसे उसी 'वीरचरित' का यह पद—'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो आदि।

[इसका अर्थ द्वितीय प्रकाश मे धीरोदात्त नायक के उदाहरण म बताया जा चुका है]

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।

ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०॥

स्मृति—पहले की देखी हुई वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर संस्कार के द्वारा मन में उस पहली देखी हुई वस्तु का जो रूप खिंच जाता है उसे स्मृति कहते हैं। इस दशा मे भौंहों को सिकोड़ना आदि लक्षण देखे जाते हैं ॥२ ॥

जैसे—सीता को हरण कर ले जाते हुए जटायु को देख रावण की यह उक्ति है—

'क्या यह मैनाक तो नहीं है जो मेरे रास्ते को रोक रहा है? (फिर सोचकर) पर उसको इतना साहस कहाँ? क्योंकि वह तो इन्द्र के वज्र से ही डरता है। और यह गरुड़ है ऐसा भी अनुमान करना ठीक नहीं है कारण वह अपने प्रभु विष्णु के साथ मेरे पराक्रम को जानता है। (फिर ताककर) अरे, यह तो वृद्ध जटायु है जो वृद्धावस्था के वशीभूत होकर (वृद्धावस्था में बुद्धि ठीक नहीं रहती यही तात्पर्य है) अपनी मृत्यु चाह रहा है।

अथवा जैसे 'मालतीमाधव' में माधव—

'नील किधौं प्रतिबिम्बित चित्रित ठौंमी उभारिकै खोदि गई है।
वाणित वज्जर पेचसी या चिपकाइ, कीं कीच प्रमाण गई है॥
कै चित पाँचहुँ बानन सों अति सुन्दर बाण मे ठीक ठई है।
छाप निरन्तर तनु के ताप छिरै गुनिवें यह प्रेम भई है॥'

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

मरण—मरण के सुप्रसिद्ध तथा अनर्थकारी होने से इसकी परिभाषा नहीं दी जा रही है।

जैसे—

"पति के प्राण की तिथि को जिधर से उसके जाने का रास्ता था उधर ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही। कुछ काल तक इस प्रकार के कार्यक्रम को जारी रखने के बाद काफी देर तक बैठकर उसने कुछ सोचा और उसके बाद भौंरा में आनेवाली कुररी जैसी को आँसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके चट आम के साथ माधवी लता से करुणापूर्ण पाणिग्रहण-संस्कार को सम्पन्न किया।

इस प्रकार से शृंगार रस के आलम्बन के रूप में जहाँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ वास्तविक मरण को न दिखाकर मरण का केवल आभास मात्र ही दिखलाना चाहिए।

शृंगार रस को छोड़ अन्य रसों के लिए कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता है वह जिस प्रकार का चाहे वर्णन कर सकता है। जैसे 'महावीरचरित' में— आप लोग जरा ताड़का को तो देखें—रामचन्द्र के बाणों के उसके हृदय के मर्मस्थान में लग जाने से उसके मर्म भग्न हो गये हैं और उसकी नासिका भी दोनों छेदों से एक ही जैसा बुद्बुद शब्द करते हुए रक्त गिर रहा है। इस प्रकार यह एक तरह से मर-सी गई है।"

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः ॥२१॥
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

मद—मदिरा आदि मादक पदार्थों के पान से उत्पन्न होनेवाली अत्यन्त प्रसन्नता को मद कहते हैं। मद के कारण अंग वाणी गति शिथिल पड़ जाती है। मद्यप लोग उत्तम मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम—नशा चढ़ने पर सो जाते हैं। मध्यम श्रेणीवाले हँसी-मजाक करते हैं और अधम श्रेणीवाले रोने लगते हैं ॥२१॥

जैसे 'माघ' में—

"विलासी तरुण के समान गर्व मस्ती ने अधिक मात्रा में (प्रौढ़ाओं के समान) मीठा मनोहरहास्य वाक्यों का शैथिल्य तथा नयनों में विशेष विकार भोगी वधुओं में उत्पन्न कर दिया है।

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रियापरम् ॥२२॥

स्वप्न—निद्रा से उत्पन्न होनेवाली अवस्था को स्वप्नावस्था (सुषुप्ति) कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास चलता है ॥२२॥

जैसे—

धान के खेत के बाड़े में पड़ी हुई छोटी कुटिया के भीतर नये धानों के पुआलों के बिछौने पर बैठे हुए कृषक दम्पति की नींद को स्तन कलश की उष्णता के कारण [illegible] तुषार भंग कर रहा है ॥

मनःसंमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥२३॥

जैसे—सीता को हरण कर ले जाते हुए जटायु को देख रावण यह उक्ति है—

'क्या यह मैनाक तो नहीं है जो मेरे रास्ते को रोक रहा (फिर सोचकर) पर उसको इतना साहस कहाँ ? क्योंकि वह तो के वज्र से ही डरता है। और यह गरुड़ है ऐसा भी अनुमान ठीक नहीं है कारण वह अपने प्रभु विष्णु के साथ मेरे पराक्र जानता है। (फिर सोचकर) अरे, यह तो वृद्ध जटायु है जो वृद्धा के वशीभूत होकर (वृद्धावस्था में बुद्धि ठीक नहीं रहती यही तात्पर्य अपनी मृत्यु चाह रहा है।

अथवा जैसे 'मालतीमाधव' में माधव—

'कौन किधौं प्रतिबिम्बित चित्रित ऊँची उभारिकै कोरि दई है।
थापित पञ्जर सैपरो या चितचाय, कीं बीज समान दई है ॥
कै चित पाँचहु बाणन सों अति सुन्दर काम नै ठीक ठई है।
साथ निरन्तर तन्तु के जाल छिदै मुनियैं यह प्रेम मई है ॥'

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते ।

मरण—मरण के सुप्रसिद्ध तथा अनर्थकारी होने से इसकी परि नहीं दी जा रही है।

जैसे—

"पति के आने की तिथि को बिचार से उसके आने का रास्ता उधर ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही। कुछ क्षण इस प्रकार के कार्यक्रम को जारी रखने के बाद काफी देर तक बैठकर कुछ सोचा और उसके बाद ग्रीवा में आवेष्टित कुरती आँसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके उस आम्र के साथ ललना ने करुणापूर्ण आत्मदहन-संस्कार को सम्पन्न किया।

इस प्रकार से शृंगार रस के आलम्बन के रूप में जहाँ मर वर्णन करना हो वहाँ वास्तविक मरण को न दिखाकर मरण का आभास मात्र ही दिखलाना चाहिए।

मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख मूर्च्छा है या निद्रा विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

मति—शास्त्र आदि के उपदेश से अथवा भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है उसको मति कहते हैं।

जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में— 'बिना विचारे कोई भी कार्य न करे क्योंकि विचार करके न करना ही सब विपत्तियों का स्थान है। सोचे विचार गुण का लोभ रखनेवाली सम्पत्तियाँ खुद ही विचारकर काम करनेवाले के पास आ जाती हैं।

और भी जैसे—

पण्डित लोग झटपट कोई कार्य नहीं करते और किसी की बात को सुनकर पहले से उसके तत्त्व की छानबीन करते हैं और फिर उस तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ-साथ दूसरे के भी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यजृम्भासितादिमत् ॥२७॥

आलस्य—थकावट, गर्भ का भार, आदि के कारण उत्पन्न अवस्था को आलस्य कहते हैं। इस दशा में जँभाई आती है और बैठे रहने की इच्छा बनी रहती है ॥२७॥

जैसे मेरा ही पद्य— 'यह बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार चलती फिरती है और सखियों के द्वारा पूछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ उत्तर देती है। इस प्रकार ऐसा लगता है मानो गर्भ के भार से थक गई सुन्दरी हमेशा बैठे ही रहना चाहती है।'

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ।

मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) दुःख है या सुख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसार है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

मति—शास्त्र आदि के उपदेश से अथवा भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है उसको मति कहते हैं।

जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में— 'बिना विचारे कोई भी कार्य न करे क्योंकि विचार करके न करना ही सब विपत्तियों का स्थान है। इसके सिवाय गुण का लोभ रखनेवाली सम्पत्तियाँ खुद ही विचारकर कार्य करनेवाले के पास आ जाती हैं।

और भी जैसे—

"पण्डित लोग झटपट कोई कार्य नहीं करते और किसी की बात को सुनकर पहले वे उसके तत्त्व की छानबीन करते हैं और फिर उस तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ-साथ दूसर के भी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।"

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ॥२७॥

आलस्य—थकावट, गर्भ का भार, आदि के कारण उत्पन्न जड़ता को आलस्य कहते हैं। इस दशा में जँभाई आती है और पड़े रहने की इच्छा बनी रहती है ॥२७॥

जैसे मेरा ही पद्य— 'यह बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार चलती फिरती है और सखियों के द्वारा पूछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ उत्तर देती है। इस प्रकार ऐसा लगता है मानो गर्भ के भार से भरी हुई सुन्दरी हमेशा बैठे ही रहना चाहती है।

प्रावेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो वातात्पांशुपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ।

जाने ही के लिए निर्णय दे रही है और न रखने ही के लिए। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।

इष्ट-प्राप्ति से होनेवाला आवेग—

जैसे—वहीं पर (पटाक्षेप के साथ सम्भ्रान्त वानर का प्रवेश) 'महाराज! पवनसुत हनुमान के आगमन से उत्पन्न प्रहर्ष प्रहर्ष है।' इत्यादि से आरम्भ कर 'महाराज के हृदय को आनन्द देनेवाला मधुवन विदलित कर दिया गया।' यहाँ तक।

अथवा जैसे 'महावीरचरित' में—

पूर्णिमा के चन्द्र के समान रघुकुल को आनन्द देनेवाले वत्स रामचन्द्र! आओ आओ मैं तुम्हारे मस्तक को चूमना तथा आलिंगन करना चाहता हूँ। मेरे मन में आ रहा है कि तुम्हें अपने हृदय में रखकर दिन रात ढोया करूँ अथवा नमस्यम् चरणों की ही वन्दना करूँ।

अग्नि से होनेवाला आवेग—

जैसे— त्रिपुरासुर के नगर के दाह के समय भगवान् शंकर के बाण से निकली हुई[1] अग्नि वहाँ की युवतियों के मुख में लग जाती है तो वे उसे झटककर आगे बढ़ती हैं। जब आग उनमें लगती है तो वह उनके आँचल को पकड़ लेती है और यदि किसी प्रकार उससे भी बच निकलती हैं तो केशों में लग जाती है और यदि वहाँ भी उसको झाड़ दिया गया तो वह पैरों में लग जाती है। इस प्रकार सद्य: अपराध किये हुए कामियों के समान आचरण करनेवाली भगवान् शंकर की शराग्नि आप लोगों के पापों को नष्ट करे।[1]

---

१ संस्कृत में अग्नि शब्द पुल्लिंग है पर हिन्दी में स्त्रीलिंग। कवि ने अग्नि को लम्पट-पुरुष रूप में चित्रित किया है, इसलिए हिन्दी में यद्यपि अग्नि को स्त्रीलिंग में ही प्रयोग किया गया है पर अब पढ़ते समय पाठकों को पुल्लिंग ही समझ लेना चाहिए अन्यथा श्लोक का भाव ही बिगड़ जाएगा।

जाने ही के लिए निर्मम हो रही है और न करने ही के लिए। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।"

द्रव्य-प्राप्ति से होनेवाला आवेग—

जैसे—यहीं पर (पटाक्षेप के साथ सम्भ्रान्त वानर का प्रवेश) 'महाराज! पवनसुत हनुमान के आगमन से उत्पन्न प्रहर्ष बढ़ रहा है।' इत्यादि से प्रारम्भ कर 'महाराज के हृदय को आनन्द देनेवाला मधुवन विध्वंसित कर दिया गया।' यहाँ तक।

अथवा जैसे 'महावीरचरित' में—

पूर्णिमा के चन्द्र के समान रघुकुल को आनन्द देनेवाले वत्स रामचन्द्र! आओ आओ मैं तुम्हारे मस्तक को चूमना तथा आलिंगन करना चाहता हूँ। मेरे मन में आ रहा है कि तुम्हें अपने हृदय में रखकर चिरकाल तक रखूँ अथवा कमलवत् चरणों की ही वन्दना करूँ।

अग्नि से होनेवाला आवेग—

जैसे—त्रिपुरासुर के नगर के दाह के समय भगवान् शंकर के बाण से निकली हुई अग्नि वहाँ की युवतियों के वस्त्रों में लग जाती है तो वे उसे इधर-उधर झाड़ने लगती हैं। जब झाड़ने लगती हैं तो वह उनके आँचल को पकड़ लेती है और यदि किसी प्रकार इससे भी बच निकलती हैं तो केशों में लग जाती है और यदि यहाँ भी उसको झटक दिया जाता है तो वह पैरों में लग जाती है। इस प्रकार तब अपराध किये हुए कामुकों के समान आचरण करनेवाली भगवान् शंकर की शराग्नि आप लोगों के पापों को नष्ट करे।[1]

१ संस्कृत में अग्नि शब्द पुल्लिंग है पर हिन्दी में स्त्रीलिंग। कवि ने अग्नि को कामुक-पुरुष रूप में चित्रित किया है। इसलिए हिन्दी में यद्यपि अग्नि को स्त्रीलिंग में ही प्रयोग किया गया है पर अर्थ लगाते समय पाठकों को पुल्लिंग ही समझ लेना चाहिए अन्यथा श्लोक का भाव ही बिगड़ जायगा।

अथवा जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—

ऐन्द्रजालिक के द्वारा सागरिका को अग्नि में जलते हुए दिखाए जाने पर महाराज उदयन उसको बचाने की चेष्टा करते हुए अग्नि से कहते हैं—

'अग्नि ! तू अपना अत्याचार बन्द कर शान्त हो जा। अपने धूम से नष्ट देना छोड़ दे, तेरी ऊँची ऊँची अग्नि की चिनगारियों से मैं डरने वाला नहीं हूँ। प्रलयाग्नि के सदृश प्रिया की विरहाग्नि में जो (मैं) न जल सका उसका तू क्या बिगाड़ सकती है।

हाथी के द्वारा होनेवाला आवेग—

जैसे 'रघुवंश' में—

'उस विशाल जंगली हाथी को देखते ही सब घोड़े भी रस्सा तुड़ा-तुड़ाकर भाग चले। इस भगदड़ में जिन रथों के धुरे टूट गए वे जहाँ-तहाँ गिर पड़े। सैनिक लोग अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिए सुरक्षित स्थान ढूँढने लगे। इस प्रकार अकेले उस मदमत्त हाथी ने सेना में भारी भगदड़ मचा दी।

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ।

वितर्क या तर्क—सन्देह को हटाने के लिए उत्पन्न विचारों को तर्क कहते हैं। इसमें व्यक्ति अपनी भौंहों, आँखों, सिर और अँगुलियों को नचाता है।

जैसे—

लक्ष्मण अपने-आप सोच रहे हैं—"क्या भरत ने राज्य के लालच में पड़कर इस प्रकार से मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं किया? अथवा मझली कैकेयी माँ ने स्त्रीजन्य स्वाभाविक लघुतावश स्वयं ही ऐसा कर्म कर डाला? पर मेरा इस प्रकार का सोचना-विचारना ठीक नहीं है क्योंकि भरत बड़े भाई आर्य राम के लघु भ्राता हैं और कैकेयी माँ मेरे पूज्यनीय पिता महाराज दशरथ की धर्मपत्नी हैं।

अथवा— यदि ऐसी बात नहीं है तो गुफा में भ्रष्ट तथा अभिषेक के पूर्व अधिकारी बड़े भाई राम को सिंहासनच्युत करने में किसकी

कारणता स्वीकार करूं ? (फिर सोचकर) मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरे पुण्यों का ही यह फल है जिसके वश ब्रह्मा ने इसी बहाने मुझे सेवा करने का अवसर प्रदान किया।

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

अवहित्था—लज्जा आदि भावों के कारण उत्पन्न मन के विकारों के छिपाने को अवहित्था कहते हैं।

जैसे कुमारसम्भव में—

देवर्षि नारद जिस समय इस प्रकार की (पार्वती के विवाह सम्बन्धी) बातें कर रहे थे उस समय पार्वतीजी अपने पिता के पास मुंह नीचा करके लीला-कमल के पत्ते बैठी गिन रही थीं।

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥२६॥

व्याधि—सन्निपात रोग आदि को व्याधि कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन और ग्रन्थों में है इसलिए यहां पर इसका वर्णन संक्षेप में ही किया जा रहा है ॥२६॥

जैसे—

कोई दूती किसी नायक से उसकी नायिका की विरहजनित पीड़ा का वर्णन करती हुई कह रही है—अनवरत प्रवहमान आँसुओं को उसने अपने सम्बन्धियों के जिम्मे और चिन्ता गुरुजनों के लिए, अपनी सारी दीनता कुटुम्बियों को और सन्ताप सखियों के हवाले कर दिया है। इस प्रकार श्वास प्रश्वासों के द्वारा परम दुखी वह एमी भय रही है मानो एक या दो दिन की ही और मेहमान है। इस प्रकार उसने अपने सारे दुखों को यथोचित स्थानों में बांट दिया है अतः अब आप विरक्त रहें।

अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।

अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादयः ॥३०॥

उन्माद—बिना सोचे-समझे काम करने को उन्माद कहते हैं। यह

सन्निपात आदि शारीरिक रोगों से तथा मद्य आदि अन्य कारण से भी होता है। इसमें रोना, गाना, हँसना आदि बातें पाई जाती हैं ॥१ ॥

जैसे—

'अरे क्षुद्र राक्षस ठहर-ठहर मेरी प्रियतमा को लिये कहाँ जा रहा है? अरे क्या? —अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है राक्षस नहीं है। और यह जो टप-टप की आवाज आ रही है वह उस राक्षस के बाण नहीं अपितु बूँदें हैं तथा यह जो कसौटी पर बनी सोने की रेखा के समान चमक आ रही है यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं अपितु बिजली है।

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः।

निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥११॥

विषाद—किसी प्रारम्भ किये हुए कार्य में सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य को खोने को विषाद कहते हैं। इसमें निःश्वास और उच्छ्वास का निकलना, हृदय में दुःख का अनुभव करना और सहायकों को ढूँढ़ना आदि बातें पाई जाती हैं ॥११॥

जैसे 'महावीरचरित' में—

'हाय! आर्या ताडिका! क्या कहा जाए शिलाएँ जल में डूब रही हैं और पत्थर तैर रहे हैं।

मनुष्य के बच्चे के द्वारा इस प्रकार की अद्भुत पराजय को प्राप्त करना निश्चय ही राक्षसपति के स्खलित प्रताप का सूचक है। इस प्रकार का अपने इष्टमित्रों का विनाश देखकर भी जीवित बचा हुआ मैं दीनता और कायरता से अकर्मण्य किया गया हूँ क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः।

तत्रोच्छ्वासत्वरानिःश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥१२॥

औत्सुक्य—किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से अथवा प्रेमास्पद

को प्रियवस्तु के कारण समय न बिता सकने को औत्सुक्य कहते हैं। इसमें श्वास-प्रश्वास का आना, हड़बड़ी, हृदय की वेदना, पसीना और भ्रम आदि बातें पाई जाती हैं ॥१२॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

अपने इस छबीले रूप को देखकर पार्वतीजी दंग रह गईं और महादेवजी से मिलने के लिए मचल उठीं क्योंकि स्त्रियों का शृंगार तभी सफल होता है जब उसे पति देखे।

अथवा उसी 'कुमारसम्भव' का यह पद—

"पार्वतीजी से मिलने के लिए महादेवजी इतने उतावले हो गए कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी कठिनाई से काटे। बताइए, जब महादेव जैसे लोगों की प्रेम में यह दशा हो जाती है तो भला दूसरे लोग अपने मन को कैसे थाम सकते हैं?"

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥१३॥

चपलता—राग द्वेष मात्सर्य आदि के कारण एक स्थिति में न रह सकने को चपलता कहते हैं। इसमें भर्त्सना, कठोर वचन, स्वच्छन्द आचरण आदि लक्षण पाए जाते हैं ॥१३॥

जैसे 'विकट नितम्बा' का यह पद—

"हे भ्रमर! तू अपने चंचल मन का रमणस्थल ऐसी सुन्दर लता को बना जो तेरी मसलन बरदाश्त कर सके। पर जिसमें रस का प्रारम्भ भी अभी नहीं हो पाया है ऐसी नूतन नवमल्लिका की कलियों को अकाल ही में कष्ट पहुँचाना तो ठीक नहीं है।"

अथवा जैसे—

विकट नितम्बा कह रही है— 'परस्पर सम्मर्दन से आनन्दयुक्त कठोर स्तन रूपी भारों से भरा हुआ डमरू के समान मध्यभाग वाला मेरा मुख क्या प्रफुल्लित होकर कभी कभी तुम्हारे ऊपर गिरे?"

सन्निपात आदि शारीरिक रोगों से तथा मद्य आदि अन्य कारण से भी होता है। इसमें पसीना आना, हाँफना आदि बातें पाई जाती हैं ॥१०॥

जैसे—

"अरे दुष्ट राक्षस ठहर-ठहर मेरी प्रियतमा को लिये कहाँ जा रहा है? क्यों क्या?—अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है राक्षस नहीं है। और यह जो टप-टप की आवाज आ रही है वह उस राक्षस के बाण नहीं अपितु बूँदें हैं तथा यह जो कसौटी पर कमी सोने की रेखा के समान चमक आ रही है यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं अपितु बिजली है।

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥११॥

विषाद—किसी आरम्भ किये हुए काम में सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य को खोने को विषाद कहते हैं। इसमें निःश्वास और उच्छ्वास का निकलना, हृदय में दुःख का अनुभव करना और सहायकों को ढूँढना आदि बातें पाई जाती हैं ॥११॥

जैसे 'महावीरचरित' में—

हाय! आर्या ताड़िका! क्या कहा जाए तितलौकी जल में डूब रही है और पत्थर तैर रहे हैं।

मनुष्य के बच्चे के द्वारा इस प्रकार की अद्भुत पराजय को प्राप्त करना निश्चय ही राक्षसपति के स्खलित प्रताप का सूचक है। इस प्रकार का अपने इष्टजनों का विनाश देखकर भी जीवित बचा हुआ मैं दीनता और कायरता से जकड़ दिया गया हूँ क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः ।
तत्रोच्छ्वासत्वरानिःश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥१२॥

औत्सुक्य—किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से अथवा प्रेमास्पद

सकता है। बात तो यह है कि उसके अविराम स्मरण होने से मेरे अन्त करण की वृत्ति तदाकार (प्रियतमाकार) हो गई है। भीतर-बाहर सर्वत्र उस प्राणप्यारी का रूप प्रत्यक्ष-गोचर हो रहा है। बस इसी ज्ञान ध्यान ने मुझे तन्‌ (प्रियतमा) मय बना दिया है।

अत इस प्रकार से विरोधी और अविरोधी का समावेश काव्य म स्थायी का बाधक नहीं होता क्योंकि विरोधी दो प्रकार का होता है—
१ सहानवस्थान और २ बाध्यबाधकभाव।

यहाँ पर दोनों प्रकार के विरोधों की सम्भावना नहीं है क्योंकि इनका पार्यन्तिक अवसान एकाकार होकर होता है।

स्थायी के विरोध-स्थल मे 'सहानवस्थान' हो नहीं सकता क्योंकि रत्यादि भावना से उपरक्त अन्त करण म अविरोधी व्यभिचारियों का उपनिबन्धन अकमूल न्याय से समस्त भावकों की अपनी समवेदना से सिद्ध है।

जैसे यह अनुभव से सिद्ध है वैसे ही काव्य-व्यापार के आवेश मे अनुकार्य म भी निवेशित किया हुआ साधारणीकरण के माध्यम से उसी प्रकार मानन्दात्मक ज्ञान के उन्मीलन मे कारण बनता है। अत भावों का सहानवस्थान सम्भव नहीं है।

रहा 'बाध्य बाधक भाव'—इसका तात्पर्य है 'एक भाव का दूसरे भाव से तिरस्कृत हो जाना' सो यह स्थायीभावों के अविरोधी व्यभिचारियों से हो नहीं सकता क्योंकि वे स्थायी के अविरोधी इसीलिए तो हैं। यदि वे व्यभिचारी भाव प्रधान (स्थायीभावों) के विरोधी ही हो जाएँ तो फिर उनकी अग्रता (अप्रधानत्व) ही कहाँ रह जाएगी? इसी प्रकार मानन्तर्य विरोध का भी परिहार हो जाता है। इसका उदाहरण मालतीमाधव मे देखा जा सकता है जहाँ शृंगार के अनन्तर बीभत्स का वर्णन होने पर भी—यद्यपि इनका पारस्पर्य विरोध है फिर भी इस स्थल मे किसी प्रकार की विरसता पैदा नहीं होती है। अत यदि ऐसी बात है तो एक प्रासम्बन के प्रति विरुद्ध रस को भी यदि किसी

उपरिलिखित भावों के अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ इन्हीं सबके भीतर विभाव अनुभाव आदि स्वरूपों के द्वारा आ जाएँगी। अतः उनका अलग नहीं गिनाया गया।

स्थायीभाव

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥३४॥

स्थायीभाव—विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जिसका प्रवाह विच्छिन्न न हो तथा जो अन्य भावों को आत्मसात् कर ले उसे स्थायी-भाव कहते हैं ॥३४॥

सजातीय एवं विजातीय भावान्तरों से जो तिरस्कृत न होकर साथ में उपनिबद्ध होते हैं उन रत्यादि भावों को स्थायीभाव कहते हैं। उदाहरणार्थ हम बृहत्कथा में नरवाहनदत्त का मदनमंजुषा के प्रति जो अनुराग है उसे ले सकते हैं। यह अनुराग अन्य नायिकाओं के अनुराग से टूटता नहीं है अर्थात् वहाँ सजातीय अनुरागों से मदनमंजुषा के अनुराग में बाधा नहीं पहुँचती है। उसका प्रवाह अविच्छिन्न ही बना रहता है।

विजातीय भावों से स्थायी का उदाहरण मालतीमाधव के श्मशानाङ्क में माधव का मालती के प्रति अनुराग में दिखाई देता है। यहाँ यद्यपि माधव की चित्तवृत्ति बीभत्स रस से आप्लावित है जो एक विजातीय भाव है फिर भी इससे मालती के प्रति जो रति की भावना है वह टूटती नहीं है। वहाँ उसके हृदय में मालती का करुण क्रन्दन कुछ क्षण के लिए दबे हुए रति भाव को जगा देता है। माधव का यह कथन इसका प्रमाण है—

मेरे उस संस्कार के जागृत रहने से प्यारी की स्मृति-धारा इतनी प्रबल हो गई है कि न तो उसका प्रवाह दूसरी बातों द्वारा रोका जाता है और न उसके मार्ग में कोई विषयान्तर का विचार बाधा पहुँचा

स्त्रियों के हावरूपी रत्नकमल का शिरोभूषण धारण किया है। और मुग्धा और हृदय प्रवेश-रूपी कमल से माला पूँथकर अपने को सजाया है। इन्होंने रक्त के कीचड़ से भी कुंकुम का लेप किया है तथा वे कपाल रूपी प्यालों में भर भरकर मस्तिष्कों में बची हुई चरबी को प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने प्रियतम के साथ पी रही हैं।"

यहाँ पर रति और जुगुप्सा का सम प्राधान्य है। और जैसे—

'भगवान् शंकर अपने एक नेत्र को समाधिस्थ किये हुए हैं और दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल और उनके स्तन प्रदेश पर शृंगार भार से अलसाया हुआ है तथा तीसरा नेत्र दूर से चाप मारने वाले कामदेव के ऊपर क्रोधाग्नि को फेंक रहा है। इस प्रकार समाधि के समय भिन्न भिन्न रस का आस्वाद लेनेवाले भगवान् शंकर के तीनों नेत्र हमारी रक्षा करें।

यहाँ पर शम और रति स्थायीभावों का सम प्राधान्य है।

ऐसे ही—

"सन्ध्याकाल में प्रियतम के वियोग की आशंकावाली चक्रवाकी अपने एक नेत्र से शोक के साथ आकाश में विचरण करनेवाले सूर्य बिम्ब को देख रही है तथा अपने दूसरे नेत्र से आँखों में आँसू भरकर अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार दो संकीर्ण रसों की रचना वह (चक्रवाकी) प्रगल्भा नर्तकी के समान सूर्यास्त होने के समय में कर रही है।

यहाँ पर रति शोक और क्रोध इन तीन स्थायीभावों का सम प्राधान्य है तो फिर यहाँ इनका आपस में विरोध कैसे नहीं होगा ?

उत्तर—इन स्थलों में भी एक स्थायीभाव है क्योंकि 'एकत्रो स्पर्द्ध पिया' इस स्थल में उत्साह स्थायीभाव है। यहाँ वितर्क है व्यभिचारी भाव और इस व्यभिचारी भाव का जनक होता है सन्देह तथा उस सन्देह की व्यक्ति के लिए (प्रिया रुदन) करुण एवं रुदन का उपादान है। अतः उत्साह स्थायीभाव होने से यहाँ वीर रस का ही पोष

अविरोधी रसान्तर से व्यवहित होकर उपनिबद्ध हो तो वहाँ विरोधी नहीं हो सकता है जैसे प्राकृत के इस श्लोक में—[1]

प्रश्न – हा (मैं) मान लिया कि जहाँ एक तात्पर्य से विरुद्ध और अविरुद्ध भावों का अंग रूप से रखा जाता है उनमें कोई विरोध नहीं होता क्योंकि एक प्रधान रहेगा दूसरा (विरुद्ध और अविरुद्ध) उसका अंग तथा अंग विरोध नहीं होगा पर जहाँ पर दोनों समप्रधान रहेंगे वहाँ पर क्या स्थिति होगी ? जैसे निम्नलिखित श्लोक में—

एक तरफ प्रिया रो रही है दूसरी तरफ समर-दुन्दुभि का निर्घोष हो रहा है अतः प्रेम और रण के आक्षेप से वीर का मन दोलायित हो रहा है।

यहाँ रति और उत्साह सम प्रधान है। इसी प्रकार नीचे के [illegible] में—

स्त्रियों ने हासरूपी रक्तकमल का शिरोभूषण धारण किया है। और मुग्धा और हृदय-प्रदेश-रूपी कमल से माला गूंथकर अपने को सजाया है। इन्होंने रक्त के कीचड़ से ही कुंकुम का लेप किया है तथा ये कपाल रूपी प्यालों में भर-भरकर अस्थियों में बची हुई चरबी को प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने प्रियतम के साथ पी रही हैं।

यहां पर रति और जुगुप्सा का सम प्राधान्य है। और जैसे—

"भगवान् शंकर अपने एक नेत्र को समाधिस्थ किये हुए हैं और दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल और उसके स्तन प्रदेश पर शृंगार भार से अलसाया हुआ है तथा तीसरा नेत्र दूर से चाप मारने वाले कामदेव के ऊपर क्रोधाग्नि को फेंक रहा है। इस प्रकार समाधि के समय भिन्न भिन्न रस का आस्वाद लेनेवाले भगवान् शंकर के तीनों नेत्र हमारी रक्षा करें।

यहां पर शम और रति स्थायीभावों का सम प्राधान्य है।

ऐसे ही—

सन्ध्याकाल में प्रियतम के वियोग की आशंकावाली चक्रवाकी अपने एक नेत्र से शोक से लाल आकाश में विचरण करनेवाले सूर्य बिम्ब को देख रही है तथा अपने दूसरे नेत्र से आंखों में आंसू भरकर अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार दो विभिन्न रसों की रचना यह (चक्रवाकी) प्रगल्भा नर्तकी के समान सूर्यास्त होने के समय में कर रही है।"

यहां पर रति शोक और क्रोध इन तीन स्थायीभावों का सम प्राधान्य है तो फिर यहां इनका आपस में विरोध कैसे नहीं होगा?

उत्तर—इन स्थलों में भी एक स्थायीभाव है क्योंकि 'एकस्मो रसः स्थिरः' इस वचन से अर्थात् स्थायीभाव है। अन्य जितने हैं व्यभिचारी भाव और इन व्यभिचारी भाव का अंगत्व होता है अथवा उन भावों की व्यक्ति के लिए (क्रिया रूप) वर्णन एवं उनका उपादान है। अतः उपर्युक्त स्थलोंमें होने से यहां और रस का ही पोष

विरोध की सम्भावना नहीं है। कारण यह है कि विरोध समप्राधान्य रहने पर होता है। विषय रूप में दो स्थितियाँ हो सकती हैं—पहली तो यह जहाँ दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव स्थापित हो जाता हो और दूसरी यह जहाँ दोनों अर्थ स्वतन्त्र हों। इस प्रकार प्रथम स्थिति में उपमान वाक्य का अंग बन जाएगा। अतः दोनों वाक्यों में अंगांगिभाव की व्यवस्था सम्भव है। अतः समप्राधान्य नहीं है। दूसरी स्थिति में भी पृथक्-पृथक् वाक्यार्थ दो विभिन्न रसों के प्रतिपादन में तत्पर होंगे। इस स्थिति में भी प्रति वाक्य पीछे एक अर्थ की ही प्रधानता रहेगी। इस तरह से यहाँ अनेक प्राधान्य सम्भव न होने से उक्त प्रकार का विरोध असम्भाव्य ही है। उदाहरणार्थ—

[सुदर्शनकर] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है। [अथवा सुदर्शन चक्र हाथ में होने से सुदर्शनकर विष्णु] जिन्होंने केवल चरणारविन्द के सौन्दर्य से [अथवा पाद निक्षेप से] तीनों लोकों को आक्रान्त किया है और जो चन्द्ररूप [से केवल] नेत्र को धारण करते हैं [अर्थात् जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्ररूप है] ऐसे विष्णु में अखिल देहव्यापी सौन्दर्यशालिनी गर्वीय सौन्दर्य से वैलक्षण्य विजय करनेवाली और चन्द्रसदृश सम्पूर्ण मुख को धारण करनेवाली जिस [रुक्मिणी] को उचित रूप से ही अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा वह रुक्मिणीदेवी तुम सबकी रक्षा करें।

[यहाँ व्यतिरेक की छाया को परिपुष्ट करनेवाला श्लेष वाच्य रूप से प्रतीत होता है।]

इस प्रकार उक्त विधि से रत्यादि स्थायीभावों का उपनिबन्धन करने से सर्वथा विरोध की स्थिति परिहृत हो जाएगी। जिस प्रकार उन वाक्यों का भी जिनमें रत्यादि वाचक पद उपनिबद्ध हैं, तात्पर्य एक ही स्थायीभाव में है इस बात को हम आगे दिखाएँगे। वस्तुतः यथायथानुगमन का अनुसरण करना चाहिए। 'वा+अनुगमात् रत्यादि'—अर्थात् उन वाक्यों का तात्पर्य जिनमें रत्यादि स्ववाचक शब्द से उक्त न हों तभी तो व्यंजना के द्वारा आ सकने पर रसोपयोगी

स्थायित्व को प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा बाह्य वृत्ति से आतिमित रहने पर तो रत्यादि भाव नहीं रह सकेंगे और फिर उनके लिए स्थायित्व की प्राप्ति असम्भव हो जायगी।

और वे [निम्नलिखित स्थायीभाव हैं]—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥३५॥

रति उत्साह जुगुप्सा क्रोध हास स्मय भय शोक ये आठ स्थायीभाव हैं। कुछ लोग शम को भी स्थायीभाव मानते हैं पर इसकी पुष्टि नाट्य में नहीं होती। ॥३५॥

इस स्थल में शान्तरस के प्रतिवादियों की अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं। इनमें से एक दल का कहना है कि शान्त नाम का कोई रस ही नहीं है। इसमें कारण है आचार्य के द्वारा इसके विभावादिकों का वर्णन न करना तथा लक्षण का अभाव।

कुछ का कहना है कि केवल आचार्य भरत ने विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया है इसीलिए शान्तरस नहीं है यह बात नहीं है, प्रत्युत वस्तुतः शान्तरस नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है—शम की पुष्टि ही शान्त है और शम की उत्पत्ति रागद्वेष के समूल नष्ट होने पर निर्भर करती है। यह रागद्वेष की धारा अनादि काल से अन्तःकरण में चलती चली आ रही है उसका उच्छेद वास्तविकता के बिना व्यावहारिक अवस्था में होना भी असम्भव है।

तीसरा दल यह कहता है कि शान्तरस का अन्तर्भाव वीर और बीभत्स आदि ही में किया जा सकता है। इस प्रकार कहते हुए वे शम भाव का भी खण्डन कर देते हैं।

चाहे जो भी हो पर इतना तो सुनिश्चित है कि रूपकों में शम का स्थायित्व सम्भव नहीं है। कारण यह है कि नाट्य अभिनयात्मक होता है और शम समस्त व्यापारों का प्रविलय रूप है। अतः इन दोनों (शम और अभिनय) का सामञ्जस्य कैसे हो सकता है? अर्थात्

किसी प्रकार इन दोनों का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता।

कुछ लोगों ने नागानन्द में 'शम' को स्थायीभाव माना है। उनके कथन का स्पष्ट विरोध नागानन्दप्रयुक्त मलयवती के अनुराग एवं विद्याधर की चक्रवर्तित्व-प्राप्ति से है। कहने का भाव यह है कि यदि जीमूतवाहन शम प्रधान होता तो उसे मलयवती में अनुराग और चक्रवर्तित्व की प्राप्ति स्वीकार नहीं होती। एक ही अनुकार्य स्वरूप विभाव का आश्रय करके परस्पर-विरोधी शम एवं रति (शान्त एवं शृंगार) की उपलब्धि कहीं भी नहीं देखी गई। अतः वस्तुतः यहाँ दया वीर के स्थायीभाव उत्साह का ही उपनिबन्ध मानना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ शृंगार का अंगभाव तथा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति का विरोध हट जाता है। कर्तव्य-भाव में इच्छा पिछली ही रहती है। अतः परोपकार रूप कर्तव्य में अभिमान प्रयुक्त विजिगीषु (विजय की इच्छा रखनेवाले) को फल की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। अभिमान कर्तव्य और फल का नित्य सम्बन्ध है। इस विषय की चर्चा द्वितीय प्रकाश में ही पर्याप्त रूप से की जा चुकी है। अतः वस्तुतः आठ ही स्थायी (भाव) होते हैं।

प्रश्न—उक्त सिद्धान्त पर कुछ लोगों की यह आपत्ति है कि मधुर शृंगार आदि रसों के समान ही इन निर्वेद आदिकों की रस रूप की प्राप्ति स्वाद अर्थात् आस्वाद के कारण ही है। क्योंकि जिस प्रकार शृंगार आदि आस्वाद्य होने के कारण रस कहे जाते हैं वह आस्वाद्यता जब शम आदि में भी पर्याप्त दिखाई देती है तो क्यों इन्हें रस न माना जाए? इन युक्तियों से अन्य रसों की भी कल्पना कर उनके विभिन्न स्थायीभावों की कल्पना की गई है। फिर इस प्रकार जब कई रस हो सकते हैं तो 'अष्टावेव' में रसों की संख्या को आठ ही में बाँधना कहाँ तक युक्ति-संगत है?

उत्तर—[इसका उत्तर आचार्य धनिक निम्नलिखित प्रकार से देते हैं—]

की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसलिए अस्थायी होने के कारण इनकी अरसता है अर्थात् ये रस नहीं हो सकते।

अब विचारणीय यह है कि इन भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? काव्य से भावों का वाच्य-वाचक भाव-सम्बन्ध इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि भाव भी स्वशब्द से कथित नहीं होते अपितु विभावादिकों से बाच्य होते हैं। शृंगार आदि रसों से युक्त काव्यों में शृंगार आदि अथवा रत्यादि शब्द कभी भी मतिगोचर तो होते नहीं जिससे हम इन भावों में अथवा इनके वर्तमान स्वरूप को अभिधेय कहते। अथवा मान लिया जाए कहीं रत्यादिकों का स्वशब्दवाचक शब्द (रति या शृंगार) से बोध होता भी हो तो वहाँ इसकी आस्वाद्यता का कारण यह अभिधेयक शब्द नहीं होता प्रत्युत विभाव आदि के ही कारण इनकी रसरूपता सम्भव है, केवल अभिधायक शब्द मात्र से ही यह आस्वाद्य होता हो ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

भावों का शब्द के साथ लक्ष्य-लक्षक भाव-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता क्योंकि विशेष रस की प्रतीति के लिए सामान्य पद (रस) का प्रयोग होता ही नहीं है। रस सामान्यवाचक है और प्रतीति किसी विशेष रस की होती है। सामान्य रस शृंगार आदि विशेष के वाचक हो नहीं सकते।

यहाँ लक्षित लक्षणा भी नहीं हो सकती है क्योंकि जिस प्रकार 'गंगा में घोष है इस स्थल में स्रोत-स्वरूप गंगा में घोष की आधारता (रहना) सम्भव नहीं है अतः गंगा शब्द विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने में पूर्णतः असमर्थ है। फलतः स्वार्थ स्रोत से निरय सम्बद्ध तटरूप अर्थ को यहाँ गंगा शब्द लक्षित करता है। इसी प्रकार किसी भी रस की प्रतिपत्ति कराने के लिए प्रयुक्त शब्द विवक्षितार्थ के बोध कराने में स्खलित गति (असमर्थ) नहीं होता है तो फिर भला वे क्यों लक्षणा से रस की प्रतीति कराएँगे? यदि बलात् इन पदों की लक्षणा की भी जाए तो हम यह पूछते हैं कि भला ऐसा कौन होगा जो कवि या प्रयोजन के

बिना ही प्रसंग के सम्पर्कवाचक शब्द का औपचारिक प्रयोग करेगा ? इस व्याख्या से ही 'निरोधोपलब्ध' आदि की भाँति पुनरुक्ति की भी सम्भावना नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि रस वाच्य रूप से प्रतीत होता तो उस स्थिति में वाच्य-वाचक भाव का ज्ञान रखनेवाले असहृदयजनों को भी शब्द से रस का आस्वाद होने लगता।

यह रस की प्रतीति केवल शाब्दिक नहीं है जो इसे अपलाप (अस्वीकार करना) कर सकें क्योंकि सभी सहृदय रस की सत्ता का एक मत हो समर्थन करते हैं। इसीलिए इस अर्थ की सिद्धि के लिए परिकल्पित शक्तियों अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य से अतिरिक्त व्यंजना व्यापार को व्यंजना-व्यापार स्वीकार करते हैं।

विभाव अनुभाव और व्यभिचारी के द्वारा अनुभूत होती हुई रसादि की प्रतीति वाच्य कैसे हो सकती है ? जैसे 'कुमारसम्भव' में—

पार्वतीजी कमी हुए नये वसन्त के समान पुष्पित अंगों से प्रेम जनाती हुई लजीली आँखों से अपना अत्यन्त सुन्दर मुख झुका तिरछा करके खड़ी रह गईं।

इत्यादि में अनुराग से उत्पन्न होनेवाली जो अवस्था विशेषरूप अनुभाव है उसके तथा सिरियारूप विभाव के वर्णन से ही रस की प्रतीति होती है यद्यपि रत्यादिवाचक शब्द यहाँ नहीं है। अन्य रसों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। केवल रस ही को बात नहीं है वस्तु भाव में भी यही स्थिति है। जैसे—

हे कामिनी! आप आनन्द के साथ विचरण करें, क्योंकि जिस कुंज में आप डरा करती थे उसे पास ही के गोदावरी नदी के किनारे रहनेवाले सिंह ने मार डाला।

[यहाँ पर विधि प्रयुक्त अभाव है पर व्यंजना या प्रकरण के पर्यालोचन से निषेध रूप से अर्थ की विश्रान्ति होती है]—इत्यादि में निषेध ज्ञान स्ववाचक पद की अनुपस्थिति में भी व्यंजना की महत्ता से ही होता है।

यह बात चमत्कारों में भी पाई जाती है। जैसे—

हे चपल और विशाल नेत्रोंवाली ! लावण्य और कान्ति से दिगन्तर को परिपूरित कर देनेवाली तुम्हारे मुख के मन्द-मुस्कान से युक्त होने पर भी इस समुद्र में जरा भी क्षोभ पैदा नहीं होता है, अतः मालूम होता है कि यह वास्तव में मुक्ता से भरा हुआ है [जलराशि का जड़ राशि करना पड़ता है क्योंकि संस्कृत में ल और ड में भेद नहीं माना जाता ] इत्यादि में तन्वी का वदनारविन्द चन्द्र के तुल्य है इत्यादि उपमा चमत्कार की प्रतीति व्यंजना शक्ति के ही कारण है। इस प्रतीति को अर्थापत्ति से आया हुआ नहीं कह सकते क्योंकि अर्थापत्ति के लिए अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा रहती है पर व्यंजना के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रतीति को वाच्यार्थ भी नहीं कह सकते क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ है तृतीय कक्षा का विषय। उदाहरणार्थ 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इत्यादि स्थल में पहले पदार्थ प्रतीति होती है जो अभिधा का कार्य है। इस प्रथम कक्षा की पदार्थ प्रतीति के अनन्तर द्वितीय कक्षा में क्रिया कारक संसर्ग स्वरूप वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनन्तर तृतीय कक्षा में 'भ्रमण निषेध' स्वरूप व्यङ्ग्यार्थ जो व्यंजना शक्ति के अधीन है स्पष्ट ही भासित होता है। अतः द्वितीय कक्षा में प्रतीत वाच्यार्थ से तृतीय कक्षा में प्रतीत होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा भिन्न है। अतः व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ कथमपि एक नहीं हो सकता।

यद्यपि 'विष भुङ्क्ष्व' इत्यादि वाक्यों में जहाँ पदार्थ-तात्पर्य अन्वित पर्याप्त नहीं है, और तात्पर्य है 'भोजन निषेध' आदि। वहाँ वाच्यार्थ की तृतीय कक्षा है ही। इस स्थल में व्यंजनावादी को भी 'निषेधार्थ प्रतीति' वाच्यार्थ मानना ही पड़ेगा क्योंकि तात्पर्य से ध्वनि सर्वथा भिन्न है। यहाँ निषेध का ही तात्पर्य है व्यङ्ग्य का नहीं और यह स्पष्टतः तृतीय कक्षा का विषय है। तथापि इस प्रकार तात्पर्यार्थ स्वरूप वाच्यार्थ भी तृतीय कक्षा का विषय हो गया यह कहना ठीक नहीं है।

वस्तुतः 'विष भुङ्क्ष्व' जैसे वाक्यों का स्वार्थ द्वितीय कक्षा में

पर्यवसान ही रहता है—उस कक्षा में अभिधा की सहायता प्राप्त करके के बराबर समर्थ इस वाच्यार्थ से जो द्वितीय कक्षा में प्रतीत होती है—विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती अतः जब तक स्वार्थ में वाक्यार्थ विश्रान्त न हो तब तक द्वितीय कक्षा ही चलती रहती है। तृतीय कक्षा तो स्वार्थ विश्रान्ति के अनन्तर प्रारम्भ होती है और उसे व्यङ्ग्य (कक्षा) कहते हैं। वहाँ द्वितीय कक्षा में स्थित वाचक समर्थ का वाक्यार्थ अनुपपन्न इसलिए है कि इस वाक्य का प्रवक्ता पिता अपने पुत्र को विष भक्षण में नियुक्त कैसे करेगा ?

पर सरस वाक्यों में विभाव आदि की प्रतीति द्वितीय कक्षा में होती है रस की नहीं। अतः रस रूप व्यंग्यार्थ की तृतीय कक्षा निर्विवाद सिद्ध हुई। कहा भी है—"स्वार्थ में प्रतिष्ठित न होने के कारण अविश्रान्त वाक्य जो तात्पर्य बोधित करना चाहता है उस तात्पर्य में तात्पर्यवृत्ति का ही मानना उचित है। किन्तु जब वाक्य स्वार्थ में विश्रान्त होकर प्रतिष्ठित हो चुका हो और फिर भी किसी अन्य अभिप्रेत अर्थ को बताने में उन्मुख हो तो उस अर्थ में निश्चय ही ध्वनि की स्थिति है। इस प्रकार सर्वत्र रस सर्वदा व्यंग्य ही रहेंगे। परन्तु वस्तु और अलंकार तो कहीं व्यंग्य और कहीं वाच्य होंगे। इस स्थिति में सभी व्यंग्य ध्वनि नहीं कहे जा सकते प्रत्युत वहीं जहाँ प्रधानतया तात्पर्य विषय बना हो। जहाँ व्यंग्यार्थ में प्रधान रूप से तात्पर्य नहीं है, वहाँ व्यंग्य के प्रधान न होने से गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति होगी। कहा भी है—

जिस स्थान में अपने अर्थ को गुणीभूत बनाकर शब्द एवं अपने ही को अप्रधान बनाकर अर्थ अन्य अर्थ के द्योतन में तत्पर होता है उसे विद्वानों ने ध्वनि नामक काव्य का एक (उत्तम) भेद माना है।"
परन्तु जहाँ द्वितीय कक्षा वाच्यार्थ ही प्रधान होता है और रस आदि उसके अंग होते हैं ऐसे काव्य में रस आदि प्रधान के उपस्कारक होने के कारण अलंकार ही होते हैं।

जैसे 'उपोढरागेण' इत्यादि स्थल में रसादि अलंकार हैं।

उस ध्वनि के विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य दो भेद होते हैं। अविवक्षित वाच्य के भी अत्यन्त तिरस्कृत और अर्थान्तर संक्रमित दो भेद होते हैं। विवक्षित वाच्य के भी दो भेद होते हैं—

१ असंलक्ष्यक्रम और २ संलक्ष्यक्रम। इसमे रसादि असंलक्ष्यक्रम में आते हैं। ये रसादि अङ्गीरूप (प्रधान रूप) में रहें तभी ध्वनि कहे जाते हैं और यदि अप्रधान हो जाएँ तो रसवद् अलंकार कहलाने लगते हैं। अप्रधान रहने पर ध्वनि नहीं रह जाते हैं।

इस प्रकार तृतीय कक्षा में ज्ञात अर्थ की व्यंग्यता को पूर्व पक्ष में रखकर उसकी तात्पर्यता सिद्धान्तित करने के लिए अब 'वाच्या' इत्यादि से आरम्भ करते हैं।

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥३७॥

जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा गम्य क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बनता है, उसी प्रकार विभावादिकों से युक्त स्थायीभाव भी वाक्यार्थ की बुद्धि में आ सकता है ॥३७॥

जिस प्रकार 'गामभ्याज' इत्यादि लौकिक वाक्यों मे स्ववाचक पद से श्रूयमाण तथा 'द्वार द्वार' इत्यादि मे प्रकरण आदि वशात् बुद्धि मे उपात्त क्रिया ही कारकों से संसृष्ट होकर वाक्यार्थ बनती है उसी प्रकार काव्यों में कहीं 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्यादि स्थल मे स्ववाचक शब्द (प्रीतिवाचक शब्द) के उपादान करने से श्रूयमाण एवं कहीं प्रकरणादि वशात् नियत रूप से अभिधा के द्वारा प्रतिपादित विभाव आदि के साथ नित्य सम्बन्ध होने के कारण साक्षात् भावक के चित्त मे स्फुरित होता हुआ रत्यादि स्थायीभाव ही अपने अपने उन विभावादिकों से जो उनके अभिधायक शब्दों द्वारा आवेदित किये गए हैं संस्कार परम्परा से पराप्रौढि को प्राप्त कराया जाता हुआ रस पदवी को प्राप्त करता है और वह वाक्यार्थ ही है।

अविश्रान्त ही रहता है—उस दशा में अभिधा की सहायता प्राप्त पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाच्यार्थ से जो द्वितीय कक्षा में प्रतीत होती है—विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती अतः जब तक स्वार्थ में वाक्यार्थ विश्रान्त न हो तब तक द्वितीय कक्षा ही चलती रहती है। तृतीय कक्षा तो स्वार्थ विश्रान्ति के अनन्तर प्रारम्भ होती है और उसे व्यंग्य (कक्षा) कहते हैं। यहाँ द्वितीय कक्षा में क्रिया कारक संसर्ग रूप वाक्यार्थ अनुपपन्न इसलिए है कि इस वाक्य का प्रवक्ता पिता अपने पुत्र को विष भक्षण में नियुक्त कैसे करेगा ?

पर सरस काव्यों में विभाव आदि की प्रतीति द्वितीय कक्षा में होती है, रसों की नहीं। अतः रस रूप व्यंग्यार्थ की तृतीय कक्षा निर्विवाद सिद्ध हुई। कहा भी है—"स्वार्थ में प्रतिष्ठित न होने के कारण अविश्रान्त वाक्य जो तात्पर्य बोधित करना चाहता है उस तात्पर्यार्थ में तात्पर्यवृत्ति का ही मानना उचित है। किन्तु जब वाक्य स्वार्थ में विश्रान्त होकर प्रतिष्ठित हो चुका हो और फिर भी किसी अन्य अभिप्रेत अर्थ को बताने में उन्मुख हो तो उस अर्थ में निश्चय ही ध्वनि की स्थिति है। इस प्रकार सर्वत्र रस सर्वथा व्यंग्य ही रहेंगे। परन्तु वस्तु और अलंकार तो कहीं व्यंग्य और कहीं वाच्य होंगे। इस स्थिति में सभी व्यंग्य ध्वनि नहीं कहे जा सकते प्रत्युत वही जहाँ प्रधानतया तात्पर्य विषय का हो। जहाँ व्यंग्यार्थ में प्रधान रूप से तात्पर्य नहीं हो वहाँ व्यंग्य के प्रधान न होने से गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति होगी। कहा भी है—

'जिस स्थान में अपने अर्थ को गुणीभूत बनाकर शब्द एवं अपने ही को अप्रधान बनाकर अर्थ अन्य अर्थ के द्योतन में तत्पर होता है वहाँ विद्वानों ने ध्वनि नामक काव्य का एक (उत्तम) भेद माना है। परन्तु जहाँ द्वितीय कक्षा वाच्यार्थ ही प्रधान होता है और रस आदि उसके अंग होते हैं ऐसे काव्य में रस आदि प्रधान के उपस्कारक होने के कारण अलंकार ही होते हैं।

इस पूर्वकथित सिद्धान्त पर यह पूर्वपक्ष खड़ा हो सकता है कि जिस प्रकार गीत आदि का उसके द्वारा उत्पन्न सुख से वाच्यवाचक भाव नहीं है, उसी प्रकार काव्य वाक्य से उत्पन्न रसादि का भी काव्य वाक्यों से वाच्यवाचक भाव का अभाव होना चाहिए।

पर यह कथन निम्नलिखित कारणों से ग्राह्य नहीं हो सकता—

यहाँ तो रसास्वाद उन्हीं को हो सकता है जिन्हें काव्य से निवेदित अलौकिक विभाव आदि सामग्री का ज्ञान है तथा उक्त प्रकार की रसादि भावना हो चुकी है अतः यहाँ गीत आदि की भाँति वाच्य वाचक भाव का उपयोग नहीं है यह कथन ठीक नहीं है। बिना वाच्य-वाचक भाव ज्ञान एवं सहृदयता के रस के कारणों का ही अन्तःकरण में उपस्थित होना असम्भव है। इस युक्ति से अब यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि गीत आदि से उत्पन्न होनेवाले सुख का आस्वाद लेनेवाला जिस प्रकार वाच्य-वाचक भाव आदि से रहित व्यक्ति भी हो सकता है, उसी प्रकार काव्य से उत्पन्न आस्वाद का भी वह आस्वादक बन सकेगा। वाक्यार्थ का इस प्रकार निरूपण हो जाने पर परिकल्पित अभिधा प्रभृति शक्ति की सहायता से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ का बोध हो जाएगा अतः व्यंजना-जैसी दूसरी शक्ति की कल्पना प्रयास-मात्र ही है जैसा कि हमने वाक्य-निर्णय में बताया है—

ध्वनि काव्य की भित्ति है। व्यंजना-व्यापार और उक्त रीति से यह स्पष्ट देख लिया कहा गया है कि व्यंजना-व्यापार तात्पर्य से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है। अतः ध्वनि काव्य भी कोई पदार्थ नहीं है अथवा अन्य पदार्थ नहीं है। यदि हमारी उक्त व्यवस्था आपको स्वीकार नहीं है— अर्थात् प्रभूत तात्पर्य को आप तृतीय कक्षा का विषय मानकर व्यंग्य की एक तीसरी कोटि बनाते हैं और उसे वाच्यार्थ से भिन्न मानकर ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं तो आपसे पूछते हैं कि जहाँ काव्य का तात्पर्य शब्द से निवेदित नहीं है ऐसी अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकृति में आप क्या करेंगे? वहाँ भी तो आप ध्वनि काव्य स्वीकार करेंगे? यद्यपि

हाँ इस पर यदि आप यह कहें कि वाक्यार्थ पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से अभिनिष्पन्न होता है अतः वाक्यार्थ में पद से अभिहित पदार्थों की ही (संसर्गसहित) प्रतीति होगी जो पद से अभिधा के द्वारा आवेदित हों किन्तु ऐसे अपदार्थों की प्रतीति वाक्यार्थ में सम्भव नहीं। रति आदि भावों की यही स्थिति है वे दूसरे के द्वारा कभी भी बोधित नहीं हो सकते अतः अपदार्थ ही होंगे। और अपदार्थ इत्यादि (पुष्ट अथवा अपुष्ट) वाक्यार्थ कैसे बन सकेंगे ?

इस पर हमारा कथन यह है कि तात्पर्य ही वाक्यार्थ है ही इसे तो आप कथमपि अस्वीकार नहीं करेंगे और तात्पर्य कार्यसिद्धि करने पर पर्यवसित हुआ करता है। कहने का भाव यह है कि सभी वाक्य दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। और ये द्विविध वाक्य किसी-न-किसी उद्देश्य से प्रयुक्त होते हैं। यदि इनका कोई तात्पर्य नहीं—उद्देश्य नहीं तो वे उन्मत्तों के प्रलाप से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकते। काव्य वाक्यों का यदि अन्वय व्यतिरेक से जिस कार्य के प्रति कारणता देखी जाती है वह निरतिशय सुखास्वाद से अतिरिक्त कुछ नहीं है अतः आनन्दोत्पत्ति ही कार्य रूप से निर्णीत किया गया है। इस आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का न तो काव्य प्रतिपादक है, जो प्रतीतिपथ में आएगा और न तो इसके अतिरिक्त प्रतीतिपथ में आनेवाला कोई पदार्थान्तर प्रतिपाद्य ही है। इस आनन्दोद्भूति का निमित्त विभाव आदि से सम्वलित स्थायी ही अवगत होता है। अतः काव्य की अभिधान शक्ति (तात्पर्य) उस स्थान के (वाक्यार्थ रस रूप) स्थायी की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित पदार्थान्तर विभावादिकों का प्रतिपादन करती हुई पर्यवसन्न होती है। ऐसी स्थिति में आप विभाव आदि को तो पदार्थ स्थानीय समझें। उन्हीं से सम्पृक्त इत्यादि स्थायीभाव वाक्यार्थ पदवी प्राप्त करते हैं अर्थात् रस इस प्रकार द्वितीय कक्षा में प्रविष्ट होनेवाला वाक्यार्थ ही है। इस प्रकार काव्य वाक्य ही है जिसका अर्थ पदार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों ही है।

इस पूर्वकथित सिद्धान्त पर यह पूर्वपक्ष खड़ा हो सकता है कि जिस प्रकार गीत आदि का उसके द्वारा उत्पन्न सुख से वाच्यवाचक भाव नहीं है उसी प्रकार काव्य वाक्य से उत्पन्न रसादि का भी काव्य वाक्यों से वाच्यवाचक भाव का अभाव होना चाहिए।

पर यह कथन निम्नलिखित कारणों से ग्राह्य नहीं हो सकता—

यहाँ तो रसास्वाद उन्हीं को हो सकता है जिन्हें काव्य से निवेदित अलौकिक विभाव आदि सामग्री का ज्ञान है तथा उक्त प्रकार की रत्यादि भावना हो चुकी है अतः यहाँ गीत आदि की भाँति वाच्य वाचक भाव का उपयोग नहीं है यह कथन ठीक नहीं है। बिना वाच्य-वाचक भाव ज्ञान एवं सहृदयता के रस के कारणों का ही प्रस्तुत करण में उपस्थित होना असम्भव है। इस युक्ति से अब यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि गीत आदि से उत्पन्न होनेवाले सुख का आस्वाद लेनेवाला जिस प्रकार वाच्य-वाचक भाव आदि से रहित व्यक्ति भी हो सकता है, उसी प्रकार काव्य से उत्पन्न आस्वाद का भी वह आस्वादक बन सकेगा। वाक्यार्थ का इस प्रकार निरूपण हो जाने पर परिकल्पित अभिधा प्रभृति शक्ति की सहायता से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ का बोध हो जायगा अतः व्यंजना-जैसी दूसरी शक्ति की कल्पना प्रयास-मात्र ही है जैसा कि हमने काव्य-निर्णय में बताया है—

ध्वनि काव्य की स्थिति है। व्यंजना-व्यापार और उक्त रीति से यह स्पष्ट देख लिया गया है कि व्यंजना-व्यापार तात्पर्य से पृथक कोई तत्त्व नहीं है। अतः ध्वनि काव्य भी कोई पदार्थ नहीं है अथवा अन्य पदार्थ नहीं है। यदि हमारी उक्त व्यवस्था आपको स्वीकार नहीं है— अर्थात् प्रस्तुत तात्पर्य को आप तृतीय कक्षा का विषय मानकर व्यंग्य की एक तीसरी कोटि बनाते हैं और उसे वाच्यार्थ से भिन्न मानकर ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं तो आपसे पूछते हैं कि जहाँ वाच्य का तात्पर्य शब्द से निवेदित नहीं है ऐसी अन्योक्ति प्रकृति में आप क्या करेंगे? वहाँ भी क्यों आप ध्वनि काव्य स्वीकार करेंगे? यद्यपि

नहीं कर सकते। फिर इस अव्यवस्थित व्यवस्था में क्या आस्था ?

अथवा इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को तात्पर्यवादी का एवं उत्तरार्द्ध को व्यञ्जनावादी का मत समझिए। फिर पूर्वार्द्ध की व्याख्या तो ऊपर के अनुसार कीजिए यही बात उत्तरार्द्ध की जो उसे यों लगाइए—

'भ्रम विधि धाम्नोटनम्' इत्यादि अन्योक्ति के उदाहरण में यहाँ तात्पर्य अवगत अनुमान नहीं है—आप क्या कहेंगे ? अर्थात् यहाँ अमुक तात्पर्य है, यह कैसे कह सकेंगे ? बात यह है कि— 'तात्पर्य वक्तुरिच्छा' तात्पर्य वक्ता की इच्छा का नाम है। यहाँ पर धाम्नोटन में इच्छा सम्भव नहीं है, अतः इस स्थल पर तात्पर्य कहाँ सम्भव है ? अतः यहाँ निषेध को द्योतित हो रहा है उसे धाम्नोटिक का तात्पर्य कैसे कहेंगे ? इस स्थिति में वह तात्पर्य भी न बन सकेगा। पर व्यङ्ग्यार्थ के होने में क्या हानि है ? अतः व्यङ्ग्यार्थ की पृथक् कल्पना करनी ही पड़ेगी जिसके ऊपर ध्वनि की अट्टालिका सुदृढ़ खड़ी की जा सकती है ॥१॥

'विष भक्षय मा चास्य' इत्यादि व्याख्या से प्रतीयमान में प्रधानत्व तात्पर्य के होने से प्रसज्यमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है ?

ध्वनिवादी व्यङ्ग्य एवं तात्पर्य का भेद दिखाते हुए कहता है कि ध्वनि तब होती है जब स्वार्थ में प्रतिष्ठित होकर वाच्य अर्थान्तर का बोध कराए और यदि स्वार्थ में अविश्रान्त होकर अर्थान्तर की प्रतीति वाच्य कराता हो तो तात्पर्यार्थ कहा जाता है ॥२॥

परन्तु ध्वनिवादियों के इस भेद कथन में अरुचि का कारण यह है कि वाच्य की तब तक विश्रान्ति ही नहीं होती जब तक पूर्ण अभिप्रेत अर्थ को न दे बैठता हो अथवा यह कह सकते हैं कि यदि अर्थान्तर की उससे निकलता है तो उसके पूर्व वाच्य की विश्रान्ति ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह उक्त भेद जिस विश्रान्ति के आधार पर किया गया है वही असम्भव है। वस्तुतः यह भेद का कारण नहीं है अतः तात्पर्य और ध्वनि एक ही चीज है, इनमें पार्थक्य नहीं है ॥३॥

एतावन्मात्र अर्थ में ही विश्रान्ति होती है। यह नियम किसमें

बनाया है ? तात्पर्य तो कार्यपर्यवसायी होता है—जब तक अभिप्रेत अर्थ नहीं मिलता तब तक वाच्य का कार्य समाप्त नहीं होता। तात्पर्य तराजू पर रखकर तोला थोड़े ही गया है जो तात्पर्य एक घेरा के भीतर ही रहेगा। तात्पर्य यहाँ तक होगा और आगे व्यंग्यार्थ होगा इसका कोई माप नहीं है। इस रीति से व्यंग्य और तात्पर्य अभिन्न हैं।

ध्वनिवादी ध्वनि के लिए फिर दलील पेश करता है—

'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध' इत्यादि वाक्य भ्रमण-रूप अर्थ का ही प्रतिपादक है। यहाँ पर भ्रमण का निषेधबोधक पद तो है नहीं जिसके वाच्य अर्थ से भ्रमण के निषेध का बोध हो सके। पर हमारे मत से तो वाच्य अवकाश में विश्रब्ध भ्रमण रूप विध्यात्मक अर्थ का बोध कराकर एक प्रकार से वाच्य विश्रान्त हो जाता है उसके बाद कुलटा स्त्री की विशेषता के ज्ञान होने से उसका उद्देश्य भ्रमण के निषेध-रूप अर्थ में ज्ञात होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की पृथक् सत्ता विश्रान्ति के अनन्तर प्रतीति से पूर्व ही होने से सम्भव है ॥१॥

[ध्वनि के खण्डन करनेवाले ग्रन्थकार इसका उत्तर निम्नलिखित प्रकार से देते हैं]—

श्रोता की आकांक्षा निवृत्ति के लिए यदि उक्त वाक्य में विश्रान्ति मान ली जाती है और विश्रान्ति के सम्भव होने से व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है तो हम यह कह सकते हैं कि वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक विनिगमन के प्रभाव में वाक्य की अविश्रान्ति ही क्यों न मान ली जाए ॥६॥

पौरुषेय वाक्य किसी-न किसी सामान्य विवक्षा से उच्चरित होते हैं अतः वक्ता का सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ वाच्य का तात्पर्य ही कहा जाएगा और जब तक अभिप्रेत अर्थ का विश्रान्ति अर्थ न आ जाए तब तक विश्रान्ति ही नहीं क्योंकि जब वाक्य विश्रान्त हो जाएगा तो फिर वह अन्य अर्थ का प्रत्यायन क्यों करेगा ? और यदि फिर भी करता है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि अभी वह विश्रान्त नहीं हुआ है ॥७॥

नहीं कर सकते । फिर इस अव्यवस्थित व्यवस्था में क्या आस्था ?

अथवा इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को तात्पर्यवादी का एवं उत्तरार्द्ध को व्यञ्जनावादी का मत समझिए । फिर पूर्वार्द्ध की व्याख्या तो ऊपर के अनुसार कीजिए रही बात उत्तरार्द्ध की तो उसे यों लगाइए—

'मा विद्धि घाटोटकम्' इत्यादि अन्योक्ति के उदाहरण में कहीं तात्पर्य अवगत प्रतीयमान नहीं है—आप क्या कहेंगे ? अर्थात् यहाँ प्रमुख तात्पर्य है, यह कैसे कह सकेंगे ? बात यह है कि—"तात्पर्य वक्तुरिच्छा" तात्पर्य वक्ता की इच्छा का नाम है। यहाँ पर घाटोटक में इच्छा सम्भव नहीं है, अतः इस स्थान पर तात्पर्य कहाँ सम्भव है ? अतः यहाँ निर्वेद को द्योतित हो रहा है, उसे घाटोटक का तात्पर्य कैसे कहेंगे ? इस स्थिति में यह तात्पर्य भी न बन सकेगा। पर व्यङ्ग्यार्थ के होने में क्या हानि है ? अतः व्यङ्ग्यार्थ की पृथक् कल्पना करनी ही पड़ेगी जिसके ऊपर ध्वनि की अट्टालिका सुदृढ़ खड़ी की जा सकती है ॥१॥

'विषं भक्षय मा चास्य' इत्यादि व्याख्या से प्रतीयमान में प्रमाणतः तात्पर्य के होने से असम्भवमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है ?

ध्वनिवादी व्यंग्य एवं तात्पर्य का भेद दिखाते हुए कहता है कि ध्वनि तब होती है जब स्वार्थ में प्रतिष्ठित होकर वाक्य अर्थान्तर का बोध कराए और यदि स्वार्थ में अविश्रान्त होकर अर्थान्तर की प्रतीति वाक्य कराता हो तो तात्पर्यार्थ कहा जाता है ॥२॥

परन्तु ध्वनिवादियों के इस भेद कथन में असंगति का कारण यह है कि वाक्य की तब तक विश्रान्ति ही नहीं होती जब तक पूर्ण अभिमत अर्थ को न दे देता हो अथवा यह कह सकते हैं कि यदि अर्थान्तर की उससे निराकांक्षा है तो उसके पूर्व वाक्य की विश्रान्ति ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह उक्त भेद जिस विश्रान्ति के आधार पर किया गया है वही असम्भव है। वस्तुतः यह भेद का कारण नहीं है अतः तात्पर्य और ध्वनि एक ही चीज है इनमें पार्थक्य नहीं है ॥३॥

एतावन्मात्र अर्थ में ही विश्रान्ति होती है। यह नियम किसने

तीतिरभिव्यक्ता का अर्थात् वह रसिक में उक्त स्थायी ही रहता है। वह रस का अनुकार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह रसकाल में वर्तमान ही नहीं रहता और रसवान् काव्य अनुकार्य के लिए लिखे भी नहीं जाते ॥३८॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥३९॥

अनुकार्य से सम्बन्ध मानने पर अन्य आपत्ति यह है कि वह अपनी स्त्री से संयुक्त किसी लौकिक नायक का शृंगार आदि का प्रतीति मात्र होगा उसमें रसता नहीं रहेगी। अथवा देखनेवाले के स्वभाववश व्रीड़ा ईर्ष्या राग द्वेष का भी प्रसंग आ सकता है ॥३९॥

'स' (वह) इस सर्वनाम से व्याख्यान में उद्भावित रसिक निष्ठ रत्यादि स्थायीभाव का परामर्श किया जाता है, वह आनन्दात्मक ज्ञान रूप आस्वादवाला रस रसिकवर्ती इसलिए है कि उस स्थिति में (स्वादात्म प्रतीति काल में) रसिक ही वहाँ वर्तमान है अनुकार्य राम आदि से उस रस का सम्बन्ध इसलिए नहीं है कि वह उस समय है ही नहीं वह तो अतीत की कोटि में चला गया है।

यद्यपि वह अनुकार्य काव्य के माध्यम से अवर्तमान होता हुआ भी वर्तमान की भाँति जान पड़ता है फिर भी अनुकार्य का अवभास हम लोगों को स्पष्ट अनुभूत नहीं होता अतः वह न होने के ही समान है और जो कुछ थोड़ा-बहुत अवभासित होता है वह तो आवश्यक ही है, क्योंकि उसके बिना राम आदि की विभावरूपता भी तो नहीं बनेगी। विभाव राम आदि यदि किसी रूप से भी नहीं रहेंगे तो रसाभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती। दूसरी बात राम आदि को रसानुभावकों की कोटि में न गिनने का यह भी है कि काव्य का अनुभव अनुकार्य को नहीं प्रत्युत सहृदयों को होता है। अतः रसानुभूति हो इसलिए इसका निर्माण होता है। यह तथ्य समस्त भावकों को स्वयं अनुभूत है।

यदि राम आदि अनुकार्य को शृंगार आदि रस अनुभूत होता तो नाटक

इस रत्यादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यंजक भाव भी सम्भव नहीं है। तो क्या फिर इनका आपस में भाव्य-भावक सम्बन्ध होगा?

हाँ वस्तुतः काव्य है भावक और रस है भाव्य। वे स्वयं होते हुए अलौकिक विभाव का ज्ञान रखनेवाले सहृदय से भावना के विषय बनाए जाते हैं। यद्यपि अन्यत्र अर्थात् काव्य से अतिरिक्त वेदादि वाङ्मय की अन्य शाखाओं में शब्द का प्रतिपाद्य के साथ भाव्य भावक सम्बन्ध नहीं देखा गया है अतः यहाँ स्वीकार करने में कुछ व्यंग्य प्रतीत होता तथापि भावना-व्यापार माननेवालों ने ऐसा काव्य ही में होने के कारण स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि अन्यत्र शब्द का रत्यादि के प्रति अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कारणता नहीं देखी गई है और यहाँ अन्वय सहृदय हृदय से अनुभूत है। इस पक्ष के अनुकूल एक उक्ति भी है—

नाट्य-प्रयोक्ताओं ने भाव की संज्ञा इसलिए दी है कि इनसे और अभिनय से अथवा भाव के अभिनय से इनका सम्बन्ध होने के कारण ये रस को भावित करते हैं।

प्रश्न उठता है कि पदों से स्थायी आदि भावों की प्रतिपत्ति कैसे होगी? पद उन्हीं के प्रत्यायक हो सकते हैं जिन पदों की शक्ति होती है। भावनावादियों का उत्तर यह है कि लोक में जिस प्रकार के भावों की बोधिका जो चेष्टाएँ होती हैं स्त्री पुरुष में वैसा ही यदि काव्य में भी उपनिबद्ध है तो रत्यादि भावों के नित्यबोधक चेष्टाओं के प्रति पादक शब्द के सुनने से उस प्रतीति चेष्टा रूप अभिधेय स्वसम्बन्ध भाव की प्रतीति कराएगा ही। प्रतीति 'अभिधेयाविनाभूत' होने के कारण लाक्षणिकी नहीं जाएगी। वाक्यार्थ की भावुकता और भी आगे बताई जाएगी।

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।

नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥३८॥

रस पद से काव्य में वर्णित विभाव आदि से युक्त स्थायीभाव की ही प्रतीति होती है क्योंकि आस्वाद्य वही है। दूसरा तर्क है अपने

में उसको देखने से लौकिक शृङ्गार की भाँति उस शृङ्गारी लौकिक नायक के समान या अपनी स्त्री से संयुक्त है इतना से केवल यही प्रतीत होता है कि अमुक नाम का यह शृंगारी है। इसके अतिरिक्त वहाँ रसास्वाद नहीं होता है। सत्पुरुषों को तो जिस प्रकार लौकिक शृङ्गार का दर्शन लज्जास्पद है उसी प्रकार यह भी होता अन्य दुष्टों को ईर्ष्या असूया अनुराग अपहरण इत्यादि की भावनाएँ भी जागृत होतीं। [पर ऐसा नहीं होता अतः अनुकार्य में आश्रित शृङ्गार आदि रस नहीं होते।]

इस प्रकार रस व्यंग्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि व्यंग्य वही कहा जा सकता है जिसकी सत्ता अभिव्यञ्जक से पूर्व ही स्थित हो उदाहरणार्थ जैसे प्रदीप से (व्यंग्य) घट। व्यञ्जक प्रदीप से घट की सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है अभिव्यङ्ग्य अभिव्यञ्जक से अपनी सत्ता प्राप्त नहीं करता केवल प्रकाशित मात्र होता है। और यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रेक्षकों में रस विभाव आदि से प्रकाशित न होकर अनुभूयमान होते हैं।

अब एक शंका यह होती है कि सामाजिक में होनेवाले रस का विभाव कौन है? और किस प्रकार सीता आदि देवियों को पूज्य हैं उनके भी विभाव बनने में कोई विरोध नहीं होता? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया जाता है।

धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के अभिनायक राम आदि रत्यादि को सामाजिकों के अन्तःकरण में अङ्कुरित करते हैं और वे अङ्कुरित रत्यादि रसिक को आस्वाद्यमान होते हैं।

हाँ ध्यान देने की बात यह है कि कवि कोई योगी तो है नहीं जो अपनी समाधि में ध्यान द्वारा वैयक्तिक रूप से राम आदि अवस्थाओं को इतिहासकार की भाँति काव्य में लिख देगा। फिर होता क्या है?

होता यह है कि कवि अपनी कल्पना से केवल उन अवस्थाओं की सामान्य रूप से सम्भावना कर किसी भी उत्तम नाम से उनका वर्णन कर देता है।

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४०॥

और फिर वही सीता प्रभृति साधारण नायिका के रूप में रस के विभाव बन जाती हैं। और तब सीता आदि शब्द जनक की पुत्री के इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले नहीं रह जाते। इस अर्थ के प्रतिपादन की उनकी (सीता आदि) की शक्ति अस्त हो जाती है ॥४ ॥

वे स्त्री मात्र के वाचक रहकर अनिष्ट उत्पादन से रहित हो जाते हैं। फिर प्रश्न यह हो सकता है कि यदि उनकी प्रतीति सामान्य रूप से ही उपयोगी होती है तो उनका विशेष रूप से काव्य में वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? भाव यह कि यदि सीता को सीता रूप से ग्रहण लेने से कोई लाभ नहीं तो उन्हें काव्य का विषय बनाया ही क्यों जाता है?

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।
क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥४१॥

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के बने असत्य हाथी आदि से खेलते हुए बालकों को उत्साह और आनन्द मिलता है उसी प्रकार असत्य अर्जुन आदि से श्रोताओं को अपना उत्साह भी अनुभूत होने लगता है ॥४१॥

कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक शृंगार में स्त्री आदि का उपयोग होता है उसी प्रकार यहाँ भी होता हो सो बात नहीं है। वस्तुतः उक्त रीति से लौकिक रस से नाट्य रसों की विलक्षणता है। कहा भी है—

'नाट्य में आठ ही रस होते हैं।

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।
काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४२॥

यदि काव्यार्थ की भावना बलात् नर्तक को भी आस्वाद हो जाए तो हम उसे अस्वीकार नहीं करते ॥४२॥

है। चित्त की अवस्था को ही लक्ष्य में रखकर हास्य आदि का शृंगार आदि के साथ जन्य-जनक भाव कहा गया है। कार्य-कारण की दृष्टि से रखकर नहीं कहा गया है।

श्लोकार्थ—'शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।

इस उत्पत्ति का रहस्य इसी चित्तवृत्ति की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। शृंगार से हास्य उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत अपने ही विभावादिकों से होता है—'शृंगारानुकृतिर्यस्तु' इत्यादि श्लोक से शृंगार एवं हास्य की एक ही प्रकार की चित्तवृत्ति की अवस्था का स्फुटीकरण होता है। और अवधारण भी इसीलिए उपपन्न हो जाता है—चित्तवृत्ति की चार अवस्था दुगुनी होकर आठ ही होती है अतः तदनुकूल रसों की भी नियत संख्या ८ ही है। भेदान्तर के अभाव से ६वाँ रस नहीं हो सकता।

सभी रसों की सुखरूपता—लोक में शृंगार, वीर, हास्य प्रभृति के प्रमोदात्मक होने (सुखा) से सुखस्वरूप होने में किसी बात की शंका नहीं होती पर दु खात्मक करुण आदि से सुखात्मकता का अनुभव होना कैसे सम्भव है? कारण यह है कि दु खात्मक करुण-काव्यों के श्रवण से दु ख का आविर्भाव एवं अश्रुपात आदि रसिकों को भी अनुभूत है। यदि वे सुखात्मक होते तो ऐसा क्यों होता?

समाधान—बात तो ठीक ही है परन्तु यह सुख वैसा ही सुख दु खात्मक है जैसा कि सम्भोगावस्था के कुट्टमित में प्रहरण आदि करने पर स्त्रियों को होता है। दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करुण से काव्य का करुण कुछ विलक्षण होता है। यहाँ उत्तरोत्तर रसिकों की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यदि लौकिक करुण के समान यहाँ का भी करुण दुःख देनेवाला होता तो दर्शकों और (पाठकों) की कभी प्रवृत्ति ही (नाटक देखने और काव्य-श्रवण में) नहीं होती। फलस्वरूप करुण रस का निधान रामायण आदि में किसी की प्रवृत्ति न होने से उनका उच्छेद ही हो जाता। रही अश्रुपात की बात सो यह लोकवृत्त

काव्य व्यापार के द्वारा खूब अच्छी तरह से वर्णन किया हुआ जो चन्द्रमा आदि उद्दीपन विभाव और प्रमदा आदि रूप आलम्बन विभाव रोमाञ्च भ्रमपात भ्र और कटाक्ष विक्षेप आदि अनुभाव तथा निर्वेद आदि संचारीभाव को पदार्थ स्थायीभाव हैं इनसे भावान्तर व्यापार के द्वारा पीव को प्राप्त होनेवाला स्थायीभाव रस नाम से पुकारा जाता है। इतना ही पहले प्रकरण में किये गए वर्णन का तात्पर्य रहा है ॥४६॥

अब इनके विशेष लक्षणों को बताया जा रहा है। आचार्य (भरत) ने स्थायीभावों रत्यादिकों और शृंगार आदि रसों का पृथक्-पृथक् लक्षण न देकर केवल विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही दे दिया है। [अत मैं भी वैसा ही कर रहा हूँ।]

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयो ॥४७॥

शृंगार आदि रसों और रत्यादि स्थायीभावों के लक्षण एक ही हैं अतः शृंगार आदि रस और रत्यादि भावों में कोई अन्तर नहीं है ॥४७॥

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८॥

एक चित्त के दो व्यक्तियों (युवक और युवती) में आनन्दस्वरूप रति का सुन्दर स्थान (बाग-बगीचे एकान्त स्थान आदि) सुन्दर कलाओं (चित्रकला आदि में निपुणता) सुन्दर समय (सन्ध्या आदि) और सुन्दर भोग विलासों तथा मधुर आंगिक चेष्टाओं (कटाक्ष विक्षेप आदि) के द्वारा परिपोष के प्राप्त होने को शृंगार (रस) कहते हैं ॥४८॥

इस प्रकार का वर्णन युक्त काव्य शृंगार के आस्वाद की योग्यता को धारण करता है, अत कवियों को अपने वर्णन में बातों का ध्यान रखना चाहिए।

देश (स्थान) के विभाव का वर्णन जैसे 'उत्तर रामचरित' में राम की यह उक्ति—

के मार्जन से लौकिक विकलता के समान विकलतामय यदि हो ही जाए तो उसका हमारे पक्ष से कोई विरोध नहीं है। अतः रसान्तर के समान करुण रस को भी आनन्दात्मक ही मानना चाहिए।

शान्त रस के अभिनेय न होने के कारण यद्यपि नाट्य में उसका अनुप्रवेश असम्भव है तथापि अन्य काव्य में उसका निषेध इसलिए नहीं अस्वीकार किया जा सकता क्योंकि वहाँ तो शब्द का राज्य है। शब्द से सब असम्भाव्य बातें भी बाँधी जा सकती हैं तो फिर शान्त का वर्णन क्यों नहीं हो सकता?

कहा जाता है—

शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥४५॥

'शम का प्रकर्ष (शान्त) अकथनीय है, मुदिता प्रभृति वृत्तियों से उसे प्राप्त किया जा सकता है ॥४५॥

यदि शान्त रस का स्वरूप—

'जहाँ सुख दुःख चिन्ता द्वेष राग या इच्छा आदि का अभाव हो वहाँ शान्त रस का स्वरूप है' ऐसा मुनीन्द्रों का कहना है, पर सभी भावों में यह शम प्रधान है।

यही है तो उसकी प्राप्ति मोक्षावस्था ही में स्वरूप-प्राप्ति पर होती है। स्वरूपतः उसकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन श्रुति भी 'नेति नेति' कहकर अन्यापोह रूप से ही करती है। इस प्रकार के शान्त रस का आस्वाद सहृदयों को नहीं होता। फिर उसके आस्वाद के उपाय भूत मुदिता आदि वृत्तियाँ हैं और वे क्रमशः विकास विस्तार क्षोभ विक्षेप रूप हैं अतः इस दृष्टि से ही शान्त रस के आस्वाद का निरूपण होता है।

इस समय विभावादि से सम्बन्धित जो यथान्तर काव्य-व्यापार है उसके प्रदर्शन के साथ-साथ प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४६॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अपमोग के विभाव का वर्णन जैसे—कोई अपनी सखी से कहती है कि ऐ मान करनेवाली ! ऐसा लगता है कि तेरे प्रणयी ने किसी प्रकार से तेरे मान को तोड़ डाला है और इसीसे तुम्हारा कुछ मन भी बड़ा हुआ-सा लग रहा है। तेरा मान भग हुआ है इसमें ये चौथे प्रमाण रूप मे प्रस्तुत हैं—१ तेरी आँख का काजल साफ हो गया है। २ अधर भाग मे लगी हुई पान की ललाई चाट डाली गई है। ३ कपोल-फलक पर केशपाश बिखरे पड़े हैं और ४ तुम्हारे शरीर की कान्ति भी कोमल हो गई है।

प्राम-वत्सलत्व रति का उदाहरण जैसे 'मालती माधव' मे—

'नव इन्दु कलादि विभाव सबै जग मे बिरही मन बीतत हाल।
हिय औरनु के सहरावत हैं उमटै इत वेही लगावत ज्वाल॥
कहुँ जो यह लोचन चन्द्रिका चारु बसी इन नैननि रूप रसाल।
अब मेरे तो जन्म म होहीं महोच्छव (महोत्सव)
एकहि बार म होहुँ निहाल॥

पुरुष का विभाव जैसे 'मालविकाग्निमित्र' मे—

राजा मन-ही-मन सोच रहा है—वाह ! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है ! क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा जैसा मुख कन्धो पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनों से कसी हुई छाती पुँछि हुए-से पार्श्व प्रदेश मुट्ठी भर की कमर मोटी-मोटी जाँघें और छोटी-छोटी झुकी हुई दोनो पैरो की उँगलियाँ सब ऐसी जान पड़ती हैं मानो इसका शरीर इसके नाट्यगुरु (गणदासजी) के कहने पर ही गढ़ा गया हो।

युवक और युवती दोनों के विभाव जैसे 'मालती माधव' (१।१८)मे—

अपनी को गलीन मे बारहि बार अमै यह माधव चारु धाम।
निज ऊँची अटारी पै बैठि कै बारहि बार बिलोकति मालती बाम॥
यह काम-सी रूप निहारि निहारि चकी जिनको रति-सी अभिराम।
ललकै घुमरै हुलसै मनसै पर दोऊ सुकोमल अंग ललाम॥

उपमेय के विभाव का वर्णन जैसे—कोई अपनी सखी से कहती है कि ऐ मान करनेवाली ! ऐसा लगता है कि तेरे प्रणयी ने किसी प्रकार से तेरे मान को तोड़ डाला है और इसीसे तुम्हारा कुछ मन भी बदला हुआ-सा लग रहा है। तेरा मान भग हुआ है इसमे ये चीजें प्रमाण रूप मे प्रस्तुत हैं—१ तेरी आँख का काजल साफ हो गया है। २ अधर भाग म लगी हुई पान की ललाई चाट डाली गई है। ३ कपोल-फलक पर केशपाश बिखर पड़े हैं और ४ तुम्हारे शरीर की कान्ति भी धौमिल हो गई है।

मानवस्वरूप रति का उदाहरण जैसे 'मालती माधव' मे—

जब इन्दु कलानि विभात सबै जग पै विरही मन पीड़त हाल ।
हिम सीरनु के सहपाठ हैं उमटे इत बही समागत ब्याल ॥
जहँ जो यह लोचन चन्द्रिका चाख लसी इम मैनसि रूप रसाल ।
बस मेरे तो जग मे सोही महोत्सव (महोत्सव)
एकहि बार मे होहिं निहाल ॥

युवति का विभाव जैसे 'मालविकाग्निमित्र' मे—

राजा मन-ही-मन सोच रहा है—वाह ! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है। क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें चमचमाता हुआ शरद् के चन्द्रमा जैसा मुख कन्धो पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनों से कसी हुई छाती पंख हुए-से पार्श्व प्रदेश मुट्ठी-भर की कमर मोटी-मोटी जाँघें और छोटी-छोटी मुड़ी हुई दोनो पैरो की अँगुलियाँ सब ऐसी जान पड़ती है मानो इसका शरीर इसके नाट्यगुरु (गणदासजी) के कहने पर ही गढ़ा गया हो।

युवक और युवती दोनों के विभाव जैसे 'मालती माधव' (१।१८) मे—

नगरी की गलीन मे बारहि बार भ्रमै यह माधव आठहुँ याम ।
निज ऊँची अटारी पै बैठि कै बारहि बार विलोकति मालती बाम ॥
यह काम-सो रूप निहारि निहारि बनी जिनकी रति-सी अभिराम ।
ललनं जुरतें इनकी लगतें पद धारि सुशोभित पथ सनाथ ॥

हे सुन्दरि इस पर्वत में लक्ष्मण द्वारा की गई शुश्रूषा ने स्मरण हम दोनों के उन दिनों की याद करती हो ? अथवा वहाँ स्वादु जलवाली गोदावरी की याद करती हो ? तथा गोदावरी के तट पर हम दोनों के रहने की याद करती हो ?

कला का विभाव जैसे— अन्तर्निहित है वचन विन्यास ऐसे हाथों द्वारा अच्छी तरह से अर्थ की सूचना मिल जाती है। पाद विशेष से रस में तन्मयता के साथ लय प्राप्त हो जाती है। मृदु अभिनय छहों प्रकार के अभिनय का उत्पत्ति स्थान है। और प्रत्येक भाव में रागरूप विषयों को व्यक्त करते हैं।

अथवा जैसे—जीमूतवाहन कह रहे हैं— 'इसकी वीणा के तन्त्रियों से इसी प्रकार के व्यंजन धातुओं (वीणा वाद्य के स्वर के १ भेदो) का प्रादुर्भाव हो रहा है। द्रुत मध्य और लम्बित ये तीनों प्रकार के लय भी बिलकुल स्पष्ट सुनाई पड़ रहे हैं। इसने गोपुच्छ आदि प्रमुख यतियों का भी सुन्दर सम्पादन किया है इसी प्रकार वाद्य के विषय में तीनों प्रकार के तत्वों का जो समूह है वे भी अच्छी तरह से दिखाए गए हैं।

काल के विभाव का वर्णन जैसे 'कुमार सम्भव' में—

'अशोक का वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तों से लद गया और उसने झनझनाते बिछुओंवाली सुन्दरियों के चरण के प्रहार की बाट तक भी नहीं देखी। यहाँ से प्रारम्भ कर—

'भौंरा अपनी प्यारी भौंरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा। काला हरिन अपनी उस हरिनी को सींग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी थी।

देश का विभाव जैसे यहीं पर—

उस समय पार्वतीजी के शरीर पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के सोने की चमक को घटाने वाले कर्णिकार के फूलों के और मोतियों की माला के समान उजले सिन्धुवार के वासन्ती फूलों के आभूषण सजे हुए थे।

[प्रश्न]—विप्रयोग का जो वास्तविक अर्थ है वही विप्रलम्भ का भी है फिर विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ ही क्यों नहीं रखते ?

[उत्तर]—विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ के रखने से विप्रलम्भ में लक्षणा करके विप्रयोग अर्थ लाना पड़ेगा। ऐसी दशा में लक्षणा के बिना काम नहीं चल सकता क्योंकि सामान्यवाचक शब्दों के विशेष अर्थाभिधायी शब्दों में लक्षणा हुआ करती है। पर यहाँ लक्षणा करना अभीष्ट नहीं है। यदि अभिधा से ही अर्थात् सीधे-सादे ही अर्थ निकल जाए तो लक्षणा अर्थात् घुमा-फिराकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से जाने की क्या आवश्यकता? इसी बात को ध्यान में रखकर विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ को नहीं रखा। अब विप्रलम्भ शब्द के बारे में बताते हैं कि वह केवल तीन ही जगह मुख्य अर्थ में व्यवहृत होता है। इन तीनों स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र लक्षणा करनी पड़ती है। जैसे—

१ आने का संकेत देकर नायक का न आना २ नायक के द्वारा अपने आने की अवधि का अतिक्रमण कर जाना और ३ नायक का अन्य नायिका में आसक्त हो जाना।

केवल इन तीन स्थलों पर विप्रलम्भ शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् धोखा देने के अर्थ में व्यवहृत होता है।

तत्रायोगोऽनुरागोऽपि नवयोरेकचित्तयो ॥५०॥

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसगम ।

अयोगशृंगार—जहाँ पर नई अवस्थावाले नायक-नायिकाओं का एकचित्त होते हुए भी परतन्त्रतावश अथवा भाग्यवश या दूर रहने आदि के कारण संयोग न हो सके इसको अयोग कहते हैं ॥५ ॥

एक का दूसरे के द्वारा स्वीकार कर लेने का नाम योग है और इसके अभाव का नाम अयोग है। [इसमें नायक और नायिका का आपस में संयोग हुआ ही नहीं रहता।]

परतन्त्रता के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण सागरिका का वत्सराज से और मालती का माधव से संयोग न हो सकना है।

दैवात् अर्थात् भाग्य आदि के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण पार्वतीजी का भगवान् शंकर से (विवाह के पूर्व तपस्याकाल तक) समागम का न हो सकना है।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥५१॥

स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसञ्ज्वराः ।

जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥५२॥

अयोग की दस अवस्थाएँ होती हैं। पहले दोनों के हृदय में अभिलाष, फिर चिन्तन उसके बाद स्मृति फिर गुणकथन तदुपरान्त उद्वेग फिर प्रलाप, उन्माद सञ्ज्वर (ताप का बढ़ जाना) जड़ता और मरण ये क्रमशः दस होते हैं। पहले की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा इस प्रकार से क्रमशः उत्तरोत्तर होनेवाली अवस्थाएँ पहले की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक दुःखदायिनी होती हैं ॥५१ ५२॥

अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।

दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥५३॥

साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।

श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुते ॥५४॥

अभिलाष—सर्वाङ्ग सुन्दर प्रियतम के देखने अथवा उसके गुणों के श्रवण के द्वारा उसको प्राप्त करने की इच्छा को अभिलाष कहते हैं। इसके उत्पन्न होने पर नायिका में विस्मय आनन्द और भीति ये तीन अनुभाव होते हैं। नायिका को निम्नलिखित प्रकारों में से किसी भी प्रकार से नायक को देख लेने से अभिलाषा उत्पन्न होती है। नायक नायिका के द्वारा निम्नलिखित प्रकार से देखा जाता है—१ साक्षात्कार के द्वारा, २ चित्र देखकर, ३ स्वप्न में ४ छाया और ५ माया के द्वारा। इसी प्रकार नायक के गुण का श्रवण भी नायिका को निम्नलिखित प्रकार से होता है— सखी के द्वारा २ वन्दीजन आदि के द्वारा नायक विषयक स्तावनीय गुण-वर्णन से। [इससे भी नायिका के हृदय में नायक के

प्रति अभिलाषा जागृत होती है। नल के प्रति दमयन्ती का अनुराग बन्दीजनों के वर्णन से भी जागृत होता रहा।] ॥२३ २४॥

अभिलाष का उदाहरण जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त शकुन्तला को देख सोच रहे हैं—जब मेरा पवित्र मन भी इस पर रीझ उठा तब निश्चय ही क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हो सकता है क्योंकि सन्देह-स्थल में सत् पुरुषों का अन्तःकरण ही उचित और अनुचित का निर्णय देता है।

विस्मययुक्त अभिलाष जैसे—

"पतले शरीरवाली नायिका के बड़े-बड़े स्तनों को देख युवक का सिर काँप रहा है मानो वह दोनों स्तनों के बीच गड़ी हुई दृष्टि को उखाड़ रहा है।

आनन्दयुक्त अभिलाष जैसे 'विद्धशाल भंजिका' में—

कोई नायिका राजमहल के मेरे के ऊपर टहल रही है। उसको उसका नायक अपने मित्र से दिखाकर बता रहा है—

'सुधा-सेवन में तत्पर उपवन के चकोरों से भक्षण किया जाता हुआ सफ़ेद-सफ़ेद पके हुए सबजी फल के समान और अपनी स्वच्छ किरणों को बिखेरता हुआ यह कौनसा मृगरहित निष्कलंक चन्द्रमा बिना आकाश के चहारदीवारी के ऊपरी भाग को अलङ्कृत कर रहा है! मित्र जरा अपनी आँखों को यहाँ फेंको तो सही और थोड़ा विचारो तो सही कैसी आश्चर्यजनक घटना है।'

साध्वस (भय) का उदाहरण जैसे 'कुमारसम्भव' में—

'भगवान् शंकर को देख पार्वतीजी के शरीर में कँपकँपी छूट गई और वे पसीने-पसीने हो गईं। इसके अलावा आगे चलने को उठाए हुए अपने पैरों को उन्होंने वहीं-का-वहीं रोक लिया जैसे धारा के बीच में पहाड़ पड़ जाने से न तो नदी आगे बढ़ पाती है, और न पीछे ही हट पाती है वैसे ही हिमालय की कन्या भी न तो आगे ही बढ़ पाईं और न पीछे ही हट पाईं वहीं-की-वहीं खड़ी ही रह गईं।

अथवा जैसे—

'पार्वतीजी इतनी लजाती थीं कि शंकरजी के कुछ पूछने पर भी बोलती न थीं और वे यदि उनका आँचल पकड़ लेते थे तो भागने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार शयनागार में भी वे दूसरी ही तरफ मुँह करके सोती थीं। पर पार्वतीजी द्वारा इस प्रकार का व्यवहार भी शंकरजी के लिए कम आनन्दप्रद नहीं होता था।

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः।

अनुभाव और विभावों के साथ चिन्ता आदि को पहले बताया जा चुका है। [अतः यहाँ उनको पुनः अंकित करने की आवश्यकता नहीं।]

पुनः इनके बारे में लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायो वृत्त्या निदर्शितम् ॥५५॥
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

प्रवाह से प्रायः दस अवस्थाएँ रहती हैं अतएव आचार्यों ने दस ही भेद गिनाए हैं। पर महाकवियों की रचनाओं की छानबीन से इनके अनन्त भेद दीख पड़ते हैं ॥५५॥

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥५६॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात्।

उदाहरणार्थ संक्षेप से उनका दिग्दर्शन किया जाता है। देखिए— नायक को देख अथवा उसके गुणों के श्रवण-मात्र से यदि नायिका के अन्दर अभिलाषा जागृत होती है तो क्या उसके अन्दर मिलन लालसा के लिए उत्सुकता नहीं हो सकती? और उत्सुकता और अभिलाषा के होते हुए भी यदि वह उसे नहीं मिला तो क्या उसके अन्दर निर्वेद पैदा नहीं हो सकता है? इसी प्रकार यदि वह अत्यधिक चिन्ता करे तो क्या उसके अन्दर ग्लानि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है? ॥५६॥

अथवा जैसे—

पार्वतीजी इतनी लजाती थीं कि शंकरजी के कुछ पूछने पर भी बोलती न थीं और वे यदि उनका आँचल पकड़ लेते थे तो भागने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार शयनकाल में भी वे दूसरी ही तरफ मुँह करके सोती थीं। पर पार्वतीजी द्वारा इस प्रकार का व्यवहार भी शंकरजी के लिए कम आनन्दप्रद नहीं होता था।

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः।

अनुभाव और विभावों के साथ चिन्ता आदि को पहले बताया जा चुका है। [अतः यहाँ उनको पुनः अंकित करने की आवश्यकता नहीं।]

गुण-कीर्तन के बारे में लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायो वृत्त्या निदर्शितम् ॥६५॥

महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

प्रयोग में प्रायः दस अवस्थाएँ रहती हैं अतएव आचार्यों ने दस ही भेद गिनाए हैं। पर महाकवियों की रचनाओं की छानबीन से उसके अनन्त भेद दीख पड़ते हैं ॥६५॥

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥६६॥

अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात्।

उदाहरणार्थ संक्षेप में उनका दिग्दर्शन किया जाता है। देखिए—नायक को देख अथवा उसके गुणों के श्रवण-मात्र से यदि नायिका के अन्दर अभिलाषा जागृत होती है तो क्या उसके अन्दर प्रियतम समागम के लिए उत्सुकता नहीं हो सकती? और उत्सुकता और अभिलाषा के होते हुए भी यदि वह उसे नहीं मिला तो क्या उसके अन्दर निर्वेद पैदा नहीं हो सकता है? इसी प्रकार यदि वह अत्यधिक चिन्ता करे तो क्या उसके भीतर ग्लानि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है? ॥६६॥

इसी प्रकार की छिप-छिपकर समागम करना इत्यादि बातों की

ठहरा पता नहीं तुझे कौन-सा ऐसा पुष्ट मंत्रणा देनेवाला मिल गया जो अमृत से तेरा हितैषी मधु के समान मीठा वचन बोलकर तेरे अन्दर मेरे प्रति प्रकोप पैदा करवा दिया। पर हे मृगनयनी! मेरे कहने से एक क्षण के लिए भी जरा इस विषय पर विचार तो करो कि वास्तव में तेरा हितैषी आखिर कौन है? क्या वह दासी की लड़की जिसने तेरे कानों में मेरे विषय में सन्देह भी भरा है? अथवा तेरी सखियाँ? या मेरे मित्र? अथवा स्वयं मैं?

स्वप्न में अन्य नायिका का नाम मुख से आ जाने के कारण अनुमानतः ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"राधा से आकर सखियों ने कहा कि कृष्णचन्द्र जिस समय जलक्रीडा कर रहे थे उस समय उन्होंने कामदेव के बाणों से प्रेरित हो किसी नायिका का आलिंगन किया। इन बातों को सुनकर राधा प्रकुपित हो गई। इसके बाद जब कृष्णचन्द्र घर आए तो किसी प्रकार राधा के कोप को शान्त किया। उसी दिन रात को जब राधा और कृष्ण एक-दूसरे के कण्ठ में भुजा डालकर सोए तो कृष्णचन्द्र को नींद आ गई और नींद में ही वे दिन के समान राधा को मनाने लगे। राधा को इस सिलसिले में उसी सखी का नाम कृष्णचन्द्र के मुख से सुनकर ईर्ष्या हो आई, तो उन्होंने किसी प्रकार कृष्णचन्द्र की गर्दन में पड़ी हुई अपनी भुजाएँ शिथिल कर लीं। कवि कहता है कि राधा की वे शिथिल भुजाएँ आपको कल्याण प्रदान करें। कृष्णचन्द्र ने स्वप्न में जो बातें कहे थे वे ये थे—हे राधा! तुम्हें किसी ने झूठमूठ आकर यह बतला दिया कि मैंने जलक्रीडा करते समय जल में डूबे हुए कामदेव के डर से सतृष्ण किसी सखी का आलिंगन किया है। तुम व्यर्थ में ऐसी बातों पर विश्वास कर दुःखित हो रही हो।"

गोत्र के चिह्नों को देखकर अनुमान के द्वारा ईर्ष्याभाव करनेवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—'अन्य स्त्री द्वारा दिए हुए ताजे नखक्षत को जो तुमने कपड़े

जैसे—

प्रणय-कलह के कारण झूठमूठ का बहाना करके मानकर "नायक और नायिका दोनों एक साथ सोए हुए हैं। दोनों प्रणय-कलह से कुपित हो सोए तो अवश्य हैं पर उनके मन में एक-दूसरे के प्रति इस प्रश्न पर संकल्प-विकल्प चल रहा है कि यह वस्तुतः सो तो नहीं गया? और वे दोनों अपने श्वास को रोक रोककर एक-दूसरे के सोने की परीक्षा कर रहे हैं। इस स्थिति को देख उनकी सखियाँ आपस में बातचीत कर रही हैं कि देखो इस होड़ में कौन विजयी होता है।"

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥५८॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधानुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥५९॥

नायक किसी दूसरी स्त्री में अनुरक्त है, इस बात को सुनने, देखने अथवा अनुमान के द्वारा नायिका के भीतर अनुमित होने से जो ईर्ष्या पैदा होती है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं।

सुनना सखियों के द्वारा ही हुआ करता है क्योंकि नायिका का उन (सखियों) पर विश्वास बना रहता है। अनुमान से होनेवाला ईर्ष्यामान भी तीन प्रकार का होता है—१ स्वप्न में कहे गए वचनों के द्वारा। २ नायक के शरीर में अन्य नायिकाकृत भोग-चिह्नों को देखकर तथा ३ अनजाने बातचीत के प्रसंग में अन्य स्त्री का नाम मुख से निकल जाने से ॥५९॥

आँख से प्रत्यक्ष कर लेने ही को देखना कहते हैं।

सखियों के कहने से नायक पर सन्देह कर ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण हमारे (धनिक के) ही इस पद्य में देखिए—

नायक नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हुए कहता है कि हे सुन्दर भौंहोंवाली प्यारी! तेरा हृदय तो मक्खन के समान कोमल

से ढँक लिया है और उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी हाथों से ढँक लिया है पर यह तो बताओ कि पत्नी के संभोग को व्यक्त करनेवाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द गिर्द फैल रहा है, भला उसको कैसे रोक सकोगे ?

गोत्रस्खलन से ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे— एकान्त में बातचीत के प्रसंग में अपने नायक के मुख से किसी नायिका के नाम को सुनकर क्रुद्ध हुई नायिका की सखी नायक को फटकार रही है—"अरे दुष्ट ! कुटिलता से वशीभूत मेरी भोली-भाली प्रिय सखी से तूने परिहास में किसी अन्य नायिका का गुण कथन कर दिया फिर क्या था वह भोली भाली तेरे कथन को सत्य मानकर रो रही है । नायक के अपराध आदि को देख ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका का उदाहरण जैसे मुञ्जराज का अमरुक कुपिता ।

(इससे पूर्व ही नायिकागत प्रणयमान का उदाहरण देते समय इस पद्य का अर्थ आ चुका है दे. पृ. २१५)

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥६१॥
तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥६२॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥६३॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

ऊपर बताए हुए तीनों कारणों से अर्थात् (१) सुनकर (२) अनुमानकर और (३) देखकर इनसे होनेवाले ईर्ष्यामान उत्तरोत्तर अधिक भयंकर होते हैं । इनको उपाय से शान्त करना चाहिए । शान्त करने के छ उपाय हैं—१ साम २ भेद ३ दान ४ नति ५ उपेक्षा और ६ रसान्तर ।

१ साम—प्रियवचन बोलने का नाम साम है।

२ भेद—नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेने का नाम भेद है।

३ दान—आभूषण साड़ी आदि देकर प्रसन्न करने की कोशिश करने को दान कहते हैं।

४ नति—पाँवों में पड़ने का नाम नति है।

५ उपेक्षा—साम आदि उपायों के विफल हो जाने पर नायिका की उपेक्षा करने को उपेक्षा कहते हैं।

६ रसान्तर—डराना चमकाना हर्ष आदि के द्वारा भी कोप-भंग किया जा सकता है। यह अन्तिम उपाय है जिसे रसान्तर कहते हैं। स्त्रियों की कोपचेष्टा का वर्णन पहले किया जा चुका है अतः उसके बारे में फिर बताने की आवश्यकता नहीं है ॥६१ ६३॥

प्रिय वचन के द्वारा प्रसन्न करने के प्रयत्न को साम कहते हैं जैसे मेरा ही पद्य—कोई नायक मान की हुई अपनी नायिका से कहता है—"तुम्हारा मुखचन्द्र स्मितरूपी ज्योत्स्ना से सारे विश्व को धवलित कर रहा है। तेरी आँखें चारों तरफ मानो अमृत बरसा रही हैं तेरा शरीर प्रत्येक दिशा में माधुर्ययुक्त लावण्य को बिखेर रहा है पर पता नहीं तेरे हृदय में कठोरता ने कहाँ से स्थान कर लिया है?

अथवा जैसे—कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है—हे प्रिय ब्रह्मा ने तेरे नेत्रों को नीलकमल से मुख को लाल कमल से तेरे दाँतों को कुन्द के श्वेत पुष्पों से अधरों को नए-नए लाल पल्लवों से तथा अवशिष्ट अंगों को चम्पक के पुष्पों से बनाया है, पर पता नहीं तेरे चित्त को पत्थर से क्यों बनाया?

नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेनेवाले भेद नामक उपाय का उदाहरण, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"नायक अपनी प्रेयसी से कहता है कि आज से तुम्हारे कोप को तो मैं असीम और अपूर्व ही समझ बैठा था क्योंकि इसके दूर करने के

लिए सखियों द्वारा की गई मधुर बातों का प्रयास भी व्यर्थ हो गया था। पर मुझे अपनी इस चपलता पर आश्चर्य हो रहा है कि तूने कैसे मेरे द्वारा आज्ञा भंग किए जाने पर भी अपने चरणों पर नत होते देखकर हाथों से मुझे उठा लिया। साथ ही तू अपने कोप को छोड़ने में भी प्रयत्नशील दीख रही है।"

आभूषण आदि देकर प्रसन्न किए जानेवाले दान नामक उपाय का उदाहरण जैसे 'माघ' में—कोई नायिका अपने नायक से कहती है—"बार-बार भ्रमरों से उपहसित इस मंजरी को मुझे क्यों दे रहे हो ! हे दुष्ट तूने तो आज रात को उसके पास जाकर मुझे बहुत बड़ी मंजरी प्रदान कर ही दी है।

पाँवों में पड़ने को नति कहते हैं जैसे— 'नायिका के चरणों पर गिरे हुए नायक के केशपाश उसके नूपुरों में ऐसे फँस गए हैं मानो वे उससे कह रहे हैं कि सम्मान प्रदानार्थ सम्मुख हृदय तेरे पास आया हुआ है।

उपेक्षा नामक उपाय का उदाहरण जैसे—"नायक मनाकर नाराज हो चला गया। उसके जाने के बाद नायिका अपने किये हुए पर पश्चात्ताप कर रही है। सखी से कहती है—अब उसके पास (मनाने के लिए) जाने से क्या लाभ ? पर हे सखि वहाँ न जाना भी ठीक नहीं है क्योंकि समर्थवान् से कठोरता का बरताव भी ठीक नहीं होता जो तुम उसके पास जाकर अनुनय-विनय करके जिस प्रकार से हो सके उस प्रकार से लाओ। नायिका थोड़ी देर रुककर फिर कहती है—अच्छा जाने दो उसको बुलाने की आवश्यकता नहीं है। और जिसने मेरे साथ ऐसा अप्रिय कार्य किया है उसकी प्रार्थना करना उचित नहीं है।'

रसान्तर नामक उपाय का उदाहरण

[शृङ्गारान्तर्गत भयमर्ष के उदाहरण में पहले दिया जा चुका है।]

कार्यतः संभ्रमाच्छापात् प्रवासो भिन्नदेशता ॥६४॥

द्वयोस्तत्राभुमि-प्रवासकार्यसम्भ्रमशापविता ।

स च भावी भवन्भूतस्त्रिधाऽऽद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥६५॥

नायक और नायिका का अलग-अलग देशों में रहने का नाम प्रवास है। यह तीन कारणों से हो सकता है—१ कार्यवशात्, २. संभ्रम से और ३ शाप से।

प्रवास की दशा में नायक और नायिका की निम्नलिखित दशाएँ होती हैं—एक का दूसरे को याद कर-कर रोना-धोना निश्वास छूटना और केशों का बढ़ जाना आदि।

प्रवास तीन प्रकार का होता है—१ भविष्यत् अर्थात् आगे आने वाला २ वर्तमान और ३ भूत।

१ इनमें का पहला अर्थात् कार्यवशात् होनेवाला प्रवास समुद्र यात्रा सेवा आदि कार्यों के लिए होता है। यह तीन प्रकार का होता है—१ भविष्यत्, वर्तमान और भूत ॥६४ ६५॥

भविष्यत् प्रवास जैसे—प्रियतमा प्रिय-विरह के विषय में सशंकित घबराती हुई पड़ोसिया के घर पूछती फिरती है कि—"जिसका पति परदेश जानेवाला होता है उसकी स्त्रियाँ कैसे जीती हैं ?

वर्तमान प्रवास का उदाहरण जैसे अमरुशतक' में—

कोई पुरुष सैकड़ों देशों अनेक नदियों पर्वतों और जंगलों से अन्तरित किसी दूर प्रदेश में स्थित अपनी कान्ता से वियुक्त है। वह यद्यपि इस बात को जानता है कि कितने ही प्रयत्नों के बावजूद भी यहाँ से मैं अपनी प्रिया को देख नहीं सकता फिर भी अपनी प्रिया के स्मरण में इतना विभोर हो उठता है कि अपने पंजों के बल खड़ा होकर आँखों में आँसू भरकर उसी दिशा में जिधर उसकी प्रेयसी का स्थान है कुछ सोचता हुआ बहुत देर से देख रहा है।"

गत प्रवास अर्थात् भूतकालीन प्रवास का उदाहरण जैसे 'मेघदूत' में—

हे मित्र जब तुम मेरी प्रिया के पास पहुँच जाओगे तो देखोगे कि वह अपने शरीर पर मलिन वस्त्रों को धारण किये हुए अपनी गोद में

वीणा को लेकर मेरे नामों से सम्बन्धित गाने योग्य बनाए हुए पदों को गाने की चेष्टा करती होगी पर उतने ही में मेरी स्मृति उद्बुद्ध हो जाने के कारण नेत्रों के आँसुओं से भीगी हुई अपनी वीणा को किसी प्रकार पोंछ लेने पर भी अपने रचे हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव को बार-बार भूल रही होगी।

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

द्वितीय अर्थात् संभ्रम (घबराहट) से होनेवाला प्रवास दिव्य अथवा मनुष्य आदि के द्वारा किए गए विप्लव से सहसा उत्पन्न होता है।

दिव्य के द्वारा होनेवाले विप्लव के भीतर उत्पात्, निर्घात वात आदि का प्रयोग कारण होता है। [जोर से आँधी आना, कमजोर वृष्टि के बीच बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की चकाचौंध, हाथी अथवा अपनी मग्न किसी पशु द्वारा उत्पात आदि बातें दिव्य के द्वारा होनेवाले उत्पात में पाई जाती हैं।]

और मनुष्य के द्वारा होनेवाले संभ्रम के भीतर शत्रु आदि के द्वारा नगर का घिर जाना आदि बातें पाई जाती हैं।

संभ्रम से होनेवाला प्रवास चाहे दिव्य कारणों से हो अथवा अदिव्य कारणों से पर बुद्धि पूर्वक होने के कारण वह एक ही प्रकार का होता है। दिव्य के द्वारा होनेवाला संभ्रम प्रवास का उदाहरण जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में गंधर्वों आदि के द्वारा राजा का उर्वशी से वियुक्त होना। अदिव्य (मानुषजन्य) उत्पात से होनेवाले संभ्रम प्रवास का उदाहरण है—

'मालती माधव' प्रकरण में कपालकुण्डला द्वारा मालती के अपहरण हो जाने से दोनों का प्रभावित होना।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥६६॥

शाप प्रवास—शापवश अन्य शरीर धारण कर लेने पर यदि नायक (प्रेमी) या नायिका (प्रेमिका) पास में भी हों फिर भी वह प्रवास ही है ॥६६॥

साथ लावण्यसागर में गोते लगाते रहते हैं ॥६९॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में—

राम सीता से कह रहे हैं— 'अनुराग के सम्बन्ध से गाल सटाकर कुछ-कुछ धीरे-धीरे क्रम के बिना कहते हुए और एक-एक बाहु को गाढ़ आलिंगन में लगाते हुए हम दोनों को बीते हुए प्रहरों का भी पता न लगकर रातें यों ही बीत जाया करती थीं।

अथवा जैसे 'उत्तररामचरित' का यह पद्य—

रामचन्द्र सीता से कहते हैं— प्रिये यह क्या है?

तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय-समूह को मूढ़ करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख मूर्च्छा है या निद्रा विष का प्रसरण है या मादक द्रव्य से उत्पन्न मद है? यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है कि हे प्रिये लावण्यरूपी अमृत की वर्षा करनेवाला काले बादल के समान कृष्ण वर्ण का चौतरफा (चारो तरफ से) अत्यधिक ऊँचा उठा हुआ तेरा स्तनमण्डल काले-काले अग्रभाग की आभावाली तथा चारों दिशाओं में जमीन तक लटके हुए मेघमण्डल के समान सुशोभित हो रहा है। [वर्षा ऋतु में केतकी का पुष्प वर्षा की वृष्टि से विकसित होता है और इधर नायक के शरीर के अवयव स्तनमण्डल-रूपी मेघमण्डल से लावण्य-रूपी जल वृष्टि से विकसित हो रहे हैं।] हे प्रिये तेरी नासिका सुन्दर केतकी पुष्प की तरह है सुन्दर भौंहों की बनावट ही उसके पत्ते हैं, माथे पर लगा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हैलायुक्त तेरा मदन ही पुष्प रस के पान करनेवाले भ्रमर हैं।

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या यास्तु योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥७०॥

युवतियों के अन्दर लीला आदि दस चेष्टाएँ होती हैं। ये दसों चेष्टाएँ प्रिय के प्रति आभिमुख्य मृदुता और प्रेम के अनुरूप होती हैं ।।७० ।।

इसको द्वितीय प्रकाश में नायिकाओं के बारे में बताते समय कह आए हैं।

रसपेशलचाटूक्तिकान्त कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत्किञ्चिन्नर्मभ्रंशकरं न च ।।७१।।

नायक नायिका के साथ चाटुकारितायुक्त मधुर वचनों से और कला क्रीड़ा आदि के द्वारा रमण करे अथवा कराए। पर इन क्रियाओं के साथ ग्राम्य (निन्दनीय) कार्य नहीं होना चाहिए। और न नर्म का ध्वंस करनेवाले ही कार्य होने चाहिए। रंगमंच पर ग्राम्य सम्भोग का दिखाना तो निषिद्ध ही है फिर यहाँ ग्राम्य के निषेध करने का तात्पर्य यह है कि श्रव्यकाव्य में भी इसका वर्णन नहीं हो सकता है ।।७१।।

राजा वत्सराज वासवदत्ता से कह रहे हैं कि प्रिये कामदेव की पूजा की समाप्ति के बाद तेरे हाथ का स्पर्श किया हुआ अशोक ऐसा लग रहा है मानो इसके अन्दर अपने और किसलयों से भी मृदुतर किसलय निकल आए हैं। यहाँ पर वासवदत्ता के हाथों की अँगुलियों पर उत्प्रेक्षा की गई है।

नायक नायिका कैशिकी वृत्ति नाटक और नाटिका आदि के लक्षणों को जानकर और कवि-परम्परा से अवगत होकर तथा स्वमति औचित्य की सम्भावना के अनुकूल कल्पना करते हुए नई-नई सूझों को दिखलाता हुआ प्रतिभाशाली कवि शृङ्गार रस की रचना करे।

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा
त्त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ।।७२।।

वीररस—प्रताप विनय अध्यवसाय सत्व (पराक्रम) अविषाद

बाद आनन्दसागर में गोते लगाते रहते हैं ॥१८॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में—

राम सीता से कह रहे हैं— 'अनुराग के सम्बन्ध से गाल सटाकर कुछ-कुछ धीरे-धीरे क्रम के बिना कहते हुए और एक-एक बाहु को गाढ़ आलिंगन में लगाते हुए हम दोनों को बीते हुए प्रहरों का भी पता न लगकर रातें भी ही बीत जाया करती थीं।

अथवा जैसे 'उत्तररामचरित' का यह पद्य—

रामचन्द्र सीता से कहते हैं—"प्रिये यह क्या है?

'तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से इन्द्रिय-समूह को मूढ़ करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है या मादक द्रव्य से उत्पन्न मद है? यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

'कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है कि हे प्रिये लावण्यरूपी अमृत की वर्षा करनेवाला काले मेघ के समान कृष्ण वर्ण का चौतरफा (चारों तरफ से) अत्यधिक ऊँचा उठा हुआ तेरा स्तनमण्डल काले-काले भ्रमर की आभावाली तथा चारों दिशाओं में जमीन तक लटके हुए मेघमण्डल के समान सुशोभित हो रहा है। [वर्षा ऋतु में केतकी का पुष्प वर्षा की वृष्टि से विकसित होता है और इधर नायक के शरीर के अवयव स्तनमण्डल-रूपी मेघमण्डल से लावण्य-रूपी जल वृष्टि से विकसित हो रहे हैं।] हे प्रिये तेरी नासिका सुन्दर केतकी पुष्प की तरह है सुन्दर भौंहों की बनावट ही उसके पत्ते हैं, माथे पर लगा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हेलायुक्त तेरा यौवन ही पुष्प रस के पान करनेवाले भ्रमर हैं।"

केशास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
शालिन्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपा प्रियं प्रति ॥७॥

युद्धवीर में प्रस्वेद (पसीना) होना, मुँह का लाल हो जाना, नेत्रों में क्षोभ आदि अनुभावों का होना आदि बातें नहीं होतीं। यदि ये सब बातें रहें तो फिर वह रौद्र कहलाएगा।

बीभत्स रस—इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। यह तीन प्रकार का होता है—१ उद्वेग से २ क्षोभ से और ३ शुद्ध।

बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
  रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
  नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥७३॥

१ हृदय को बिलकुल ही अच्छे न लगनेवाले कीड़े, सड़न, वमन आदि विभावों से पैदा हुआ जुगुप्सा नामक स्थायीभाव को पुष्ट करनेवाले प्रकारों से युक्त उद्वेगी नामक बीभत्स होता है।

२ रुधिर, अंतड़ी, हड्डी और मज्जा, मांस आदि के देखने अर्थात् इन विभावों से होनेवाले क्षोभ से उत्पन्न होनेवाला बीभत्स होता है।

३ वैराग्य के द्वारा स्त्रियों की सुन्दर जघनों तथा स्तन आदि अंगों में भयानक विकृति को देखकर होनेवाली जुगुप्सा को शुद्ध बीभत्स कहते हैं।

बीभत्स रस में नाक का सिकोड़ना और मुख मोड़ना आदि अनुभाव और आवेग, व्याधि तथा शंका ये सञ्चारीभाव होते हैं ॥७३॥

उद्वेग से होनेवाला बीभत्सरस का उदाहरण 'मालतीमाधव' का यह पद्य—

कतिन उतिन चाम फेरि ताहि चाउन है
  मौंसि को उठाइ भरी ऐसे है चागन है।
धरया माम मनो औष पीठ की नितम्बनु की
  सुगम पचाद मैत रंचि सो निसर है।

और इसके संचारीभाव—अमर्ष मद स्मृति चपलता असूया उग्रता आवेग आदि हैं।

ऊपर कहे हुए विभाव अनुभाव और संचारीभावों से पुष्ट होता हुआ क्रोध नामक स्थायीभाव रौद्ररस की संज्ञा प्राप्त करता है।

मात्सर्य नामक विभाववाला रौद्ररस जैसे—

प्रकुपित परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं— तुम इस समय तपस्या के बल से ब्रह्मर्षि हो पर जन्मना क्षत्रिय हो। अतः यदि तुम्हें अपनी तपस्या का घमण्ड है तो मेरे अन्दर तपस्या का वह बल है कि मैं अपने तपोबल से तुम्हारी तपस्या को नष्ट कर सकता हूँ और यदि तुम्हें क्षत्रिय होने का गर्व है तो फिर अस्त्रास्त्रों के साथ आ जाओ उसका भी मुँहतोड़ उत्तर देनेवाला फरसा मेरे पास ही विद्यमान है।

वैरिकृत रौद्र का उदाहरण जैसे—

भीमसेन सहदेवादि भरतवंशवाला को डाँटते हुए कह रहे हैं—जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाक्षानिर्मित महल विषमिश्रित आहार तथा द्यूत और सभा में प्रवेश आदि के द्वारा हम लोगों के प्राण और धन के अपहरण की चेष्टा की द्रौपदी के केशपाशों को खींचा वे मेरे रहते स्वस्थ हो ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

'महावीरचरित' और 'वेणीसंहार' में वर्णित परशुराम भीमसेन और दुर्योधन के व्यवहार रौद्ररस के उदाहरण हैं।

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।

हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥७४॥

हास्यरस—अपने या अन्य के विकृत आकृति वाणी और वेष के द्वारा पैदा हुए हास के परिपुष्ट होने का नाम हास्यरस है। इस रस के दो आश्रय होते हैं—१ आत्मस्थ और २ परस्थ ॥७४॥

आत्मस्थ का उदाहरण है—रावण द्वारा कथित यह पद्य—

मेरे शरीर में लगी विभूति ही चन्दन की धूलि का लेप है, यज्ञ

पवीत की सुन्दर हार है इधर-उधर बिखरी हुई, बिखरी जटाएँ ही सिरो-भूषण हैं। गले में पड़ी हुई कपाल की माला ही रत्नजटित आभूषण है। भस्म ही चित्रानुलेप है इस प्रकार से मैंने सीता को भुलाने लायक (योग्य कामीजनोचित सुन्दर वेष-विन्यास किया है।

परस्थ हास्य जैसे—किसी दाता ने किसी भिक्षुक से पूछा—'क्या तुम मांस भी खाते हो?' उधर से उत्तर मिला—'मद्य के बिना मांस का सेवन कैसा?' दाताजी ने फिर पूछा—'क्या तुम्हें मद्य भी प्रिय है?' उधर से उत्तर आया—'वेश्याओं के साथ ही मुझे तो मद्यपान में मजा आता है।' दाता ने पुनः प्रश्न किया—'वेश्याएँ तो रुपये की लालची होती हैं तेरे पास धन कहाँ से आता है?' उत्तर मिला—'जुआ खेलकर तथा चोरी से।' दाता ने फिर पूछा—'अरे तुम चोरी भी करते हो और जुआ भी खेलते हो?' उत्तर मिला—'जो अपने को नष्ट कर चुका है उसकी इससे अधिक और क्या गति हो सकती है।'

स्मितमिह विकासिनयनं किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वरं विहसितं सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥७६॥
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥७७॥

हास्य के आत्मस्थ और परस्थ भेदों को बता चुके। ये दोनों भी—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अधम पुरुष की प्रकृति भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार हास्य छः प्रकार का होता है। वे हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित।

जिस हास्य में केवल नेत्र विकसित हों उसे स्मित कहते हैं।

जिस हास्य में कुछ कुछ दाँत भी दिखाई दें उसे हसित कहते हैं।

जिस हास्य में हँसते समय मधुर स्वर भी होता है उसे विहसित कहते हैं।

जिस हास्य में सिर भी हिलने लगता है उसे उपहसित कहते हैं।

स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसंभ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥८२॥

करुण रस—यह शोक नामक स्थायीभाव से पैदा होता है। इष्ट का नाश, अनिष्ट की प्राप्ति आदि इसके विभाव और निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ, प्रलाप आदि अनुभाव तथा निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, आवेग, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि संचारी भाव होते हैं ॥ ८२॥

इष्टनाश से उत्पन्न करुण जैसे 'कुमारसम्भव' में—

'हे प्राणनाथ क्या तुम जीवित हो' यह कहती हुई वह ज्यों ही खड़ी हुई तो देखती क्या है कि शंकर के क्रोध से जला हुआ पुरुष के आकार का राख का एक ढेर सामने पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।"

इत्यादि रति का प्रलाप]

अनिष्ट प्राप्ति का उदाहरण 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका का कैद किया जाना है।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥८३॥

प्रीति और भक्ति आदि भावों को और मृगया, द्यूत से होनेवाले रसों का हर्ष और उत्साह के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या नहीं की गई ॥८३॥

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसन्ध्यन्तराख्यानि सालंकारेषु तेषु च ॥८४॥

३६ विभूषण आदि का, उपमा आदि अलंकारों में और २१ साम आदि का हर्ष, उत्साह आदि के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। यह बात स्पष्ट है, अतः इसको क्रम से बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई ॥८४॥

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।

# धनिक की संस्कृत वृत्ति

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयो प्रकृताभिमतदेवतयोर्नमस्कार क्रियते श्लोकद्वयेन ।

नमस्तस्मै भरताय च ॥१ २॥

यस्य कण्ठ पुष्करायते मृदङ्गवदाचरति महाभोगेन घनध्वानो निविडध्वनि नीलकण्ठस्य शिवस्य ताण्डवे नृत्ये नृत्ते तस्मै गणेशाय नम । अत्र सन्देहोपाक्षिप्यमाणोपमाख्यानामलङ्कार । नीलकण्ठस्य मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनि पुष्करायत इति प्रतीति ।

दशरूपानुकारेणेति । एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामनुकारेणान्यत्र नाटकादिना यस्य भावका ध्यातारो रसिकाश्च माद्यन्ति हृष्यन्ति तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नम ।

श्रोतु प्रवृत्तिनिमित्त प्रदर्श्यते ।

कस्यचिदेव येन वैदग्ध्यम् ॥३॥

न कश्चिद् विषय प्रकरणादिकस्य कस्यचिदेव कस्यचिदेव कवे सरस्वती योजयति येन प्रकरणादिना विषयेणाऽन्यो जनो विदग्धो भवति ।

स्वप्रवृत्तिविषय दर्शयति ।

उद्धृत्योद्धृत्य करोम्यहम् ॥४॥

य नाट्यवेद वेदेभ्य सारमादाय ब्रह्मा कृतवान् यत्सम्बद्धमभिनय भरतश्चकार नरत्वाज्जहारोत्करोत् हरस्ताण्डवमुद्धत लास्य सुकुमार नृत्त पार्वती कृतवती तस्य सामस्त्येन लक्षण कर्तुं क शक्त तदेव देशत सु दशरूपस्य सक्षेप क्रियते इत्यर्थ ।

नाटकं        वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥८॥

ननु ।

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह ।

अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं

इति । रसाश्रयात् नाट्यात् भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदात् नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात् लोकेऽपि चात्र प्रेक्षणीयकमिति व्यवहारात् नाटकादेरन्यत् नृत्यम् । तद्भेदत्वात् श्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः । नाटकादि च रसविषयम् । रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वात् वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च नट अवस्पन्दने इति नटेः किंचिच्चलनार्थत्वात् सात्त्विकबाहुल्यम् । अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यत् नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकात् नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गात् नृत्तं व्युत्पादयति ।

नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

इति । तालश्चञ्चत्पुटादिः लयो द्रुतादिः तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।

अनन्तरोक्तं द्वयं व्याचष्टे ।

आद्यं        तथा परम् ॥९॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम् । नृत्तं च देशीति ।

द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति ।

मधुरोद्धतभेदेन        नाटकाद्युपकारकम् ॥१०॥

सुकुमारं द्वयमपि लास्यमुद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रकृतोप
योगं दर्शयति । तच्च नाटकाद्युपकारकमिति । नृत्यस्य क्वचित्

स्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्य-विशेषणतया च द्विप्रकारमन्योक्ति समासोक्तिभेदात् । यथा रत्नावल्याम् ।

> यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
> सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
> प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
> सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥

यथा च तुल्यविशेषणतया ।

> उद्दामोत्कलिका विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भा क्षणाद्
> आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मन ।
> अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
> पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

एवमाधिकारिकेतिवृत्तप्रासङ्गिकभेदात् द्विविधस्यापि त्रैविध्यमाह ।

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत् त्रिधा ॥१५॥

इति निगदव्याख्यातम् ।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह ।

**कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।**

धर्मार्थकामाः फलम् । तच्च शुद्धमेकैकमेवानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा ।

तत्साधनं व्युत्पादयति ।

**स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।**

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम् । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः । यौगन्धरायणः । प्र-विश्य । द्वीपादन्यस्मादपि इत्यादिना ।

> प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ ।

इत्यनेन । यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचित युधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदाद् बहुप्रकारमिति ।

इत्यादिना प्रतिपादितः ।

प्राप्त्याशामाह ।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्कया [1]एवं यदि अकालवातालीव आगत्य... ...वासवदत्ता इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह ।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ।

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्यां विदूषकः । [2]सागरिका दुक्कर जीविस्सदि इत्युपक्रम्य किं ण उवाअं *चिन्तेसि । इत्युपक्रम्य राजा । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं* पश्यामीत्यनन्तरमङ्कार्थबिन्दुनाऽनेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणात् नियता फलप्राप्तिः सूचिता ।

फलयोगमाह ।

समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः ॥२ ॥

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

सन्धिलक्षणमाह ।

अर्थप्रकृतयः पञ्च ... पञ्च सन्धयः ॥२१॥

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासंख्येनैव जायमाना मुखाद्याः पञ्च सन्धयो जायन्ते ।

सन्धिसामान्यलक्षणमाह ।

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्ध-

१ एवं यदि अकालवातालीव मामस्याप्यतो न भविष्यति वासवदत्ता ।
२ सागरिका दुष्करं जीविष्यति इत्युपक्रम्य किं न उपायं चिन्तयसि ।

सिद्धैर्माज्ञिप्तिरप्रसिद्ध सरभ तथाऽपि
स्वेच्छाकारी भीत एवाऽस्मि भर्तुं ॥

इत्यनेन यौगन्धरायण: स्वव्यापारवैवर्यानिष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यास:।

विलोभनमाह।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥२१॥

यथा रत्नावल्याम्।

अस्तापास्तसमस्तभासि नभस: पारं प्रयाते रवा
वास्थानीं समये समं नृपजन: सायन्तने सम्पतन्।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुष: पादास्तवाऽऽसेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते॥

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकाया: समागमहेत्वनुरागबीजानुगुण्येनैव विलोभनाद् विलोभनमिति। यथा च वेणीसंहारे।

मन्थायस्तार्णवाम्भ: प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीर:
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्ड:।
कृष्णाक्रोधाग्रदूत: कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवात:
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

इत्यादिना भयोद्धरदुन्दुभिरित्यनेन द्रौपद्या विलोभनाद् विलोभनमिति।

अथ युक्ति:।

सम्प्रधारणमर्थानां युक्ति:

यथा रत्नावल्यां मयाऽपि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितं कथितं च मया यथा बाभ्रव्य: कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो मिलित इत्यनेन सागरिकाया अन्त:पुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादि प्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययो: स्वनायकसमागमहेतु प्रयोजनत्वेनावधारणाद् युक्तिरिति।

मुखदुःखाग्नित्वात् विधानमिति । यथा च वेणीसंहारे । द्रौपदी । [1]णाध पुणोवि तुम्हेहिं अहं आअच्छिअ समस्सासइदव्वा । भीमः ।

ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया ।
भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद् विधानमिति ।

अथ परिभावना ।

परिभावोऽद्भुतावेशः

इति । यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । दृष्ट्वा सविस्मयम् । [2]कथं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदि ता अहंपि इध ट्ठिदा ज्जेव णं पूजइस्सं । इत्यनेन वत्सराजस्य अनङ्गरूपतया अपह्नुतमानुषस्य च प्रत्यक्षस्य कुसुमायुधस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभावना । यथा च वेणी-संहारे । द्रौपदी । [3]किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुही ताडीअदि । इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशात् द्रौपद्याः परिभावना ।

अथोद्भेदः ।

उद्भेदो गूढभेदनम् ।

इति । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिक-वचसा अस्तापास्तसमस्तभासीत्यनेन यत्नेन श्रीमदुद्भेदनादुद्भेदः । यथा च वेणीसंहारे । आर्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरुरित्युपक्रमे । नेपथ्ये ।

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।

१ नाथ पुनरपि त्वयाऽऽगत्याहं समाश्वासयितव्या ।
२ कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः पूजां प्रतीच्छति अहमपि इह स्थितैवैनं पूजयिष्यामीति
३ किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दु-भिस्ताड्यते

तद् भूतार्थमिदम्मृत नृपसुताकेशाम्बराकर्षणे
क्रोधस्योरिव महान् कुरुवने भीमेऽद्य जृम्भते ॥

भीम । सहर्षम् । जृम्भता सम्प्रस्यप्रतिहतमायस्य क्रोधस्योन्मेषेणानुगूढ ।

अथ करणम् ।

करणं प्रकृतारम्भो

यथा रत्नावल्याम् । [1]णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति दिट्ठं ज पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि म पेक्खदि ता गमिस्सं इत्यनेनानन्तरप्रकृतदर्शनारम्भणात् करणम् । यथा च वेणीसंहारे । तत् पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयायेति । सहदेव । आर्य गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुमित्यनेनान्तःपातिप्रसूयमानसङ्ग्रामारम्भणात् करणमिति । सर्वत्र बहोद्देशप्रतिनिर्देश वैषम्य मिथ्यात्मनस्याप्रविवक्षितत्वादिति ।

अथ भेद ।

भेद प्रोत्साहना मता ॥ २७ ॥

इति । यथा वेणीसंहारे । [2]णाह मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणवेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसंचरणीआइं सुणीयन्ति रिउबलाइं । भीम । अयि सुक्षत्रिये ।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांसमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्या भावोन्माहरीमानुरूप्येणैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

---

१ नमस्ते कुसुमायुध अमोघदर्शनो मे भविष्यसीति दृष्टं यत् प्रेक्षितव्यं तत् यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तत् गमिष्यामीति ।

२ नाथ मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनवेक्षितशरीरा परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।

प्रतिमुखाङ्गत्व मुक्तमिति ।

अथ नर्मद्युतिः । धृतिरिति । यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता । [1]सहि अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एवं वि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि । सागरिका । सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य । सुसङ्गदे दाणिं पि ण विरमसीत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वेषेण धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ।

अथ प्रगमनम् । उत्तरेति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । [2]भो वअस्स दिट्ठिआ वड्ढसे । राजा । सकौतुकम् । वयस्य किमेतत् । विदूषकः । [3]भो एदं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहववदेसेण णिह्नुवीअदीत्यादिना ।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्
किं शोषमायासि मृणालहार ।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य
तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥

इत्यनेन सागरिकावत्सराजयोरन्योन्यानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति ।

अथ निरोधः । हितरोध इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा विहस्य ।

प्राप्ता कथमपि दैवात् कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधान्निरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम् । पर्युपास्तिरिति । यथा रत्नावल्यां राजा ।

१ सखि अदक्षिणेदानीमसि त्वं या एवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि । सागरिका । सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य सुसङ्गते इदानीमपि न विरमसि ।

२ भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे ।

३ भो एतत् खलु तद् यन्मया भणितं त्वमेवालिखितः । कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते ।

प्रसीदति क्व यामिवमसति कोप न घटते
करिष्याम्यव मा पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥

—अत्र विप्रलम्भावसरे निजनिरपराधत्वपरिहाराय मानाकुलितायाः नायिकाया अनुनयने नायक-
मौग्ध्यमुपलभ्यते स्तवक एव नायकविति ।

अथ पुष्पम् । पुष्पमिति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । सागरिका
हस्ते गृहीत्वा स्पर्श नाटयति । विदूषकः । भो एसा अपुव्वा सिरी तए
समासादिदा । राजा । वयस्य । सत्यम् ।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥

इत्यत्र नायकया सागारिकापाणिस्पर्शनादिना सविशेषानुरागोद्भावनात्
पुष्पम् ।

अथोपन्यासः । उपन्यास इति । यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता । ¹भट्टा
अलं सङ्काए मएवि भट्टिणीए पसादेण कीलिदं एव्व ता किं कण्णाभरणेण
अदोवि मे गरुअो पसादो जं तुए अहं एत्थ आलिहिद त्ति कुविदा
मे पिअसही सागरिआ ता पसादीअदु इत्यनेन सुसंगतावचसा सागरिका
मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन प्रीत्युत्पादनो-
पन्यास इति ।

अथ वज्रम् । वज्रमिति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता । फलक-
निर्दिश्य । ²अज्जउत्त एसावि जा तुह समीवे एद किं वसन्तअस्स विण्णाणं ।

१ भो एसा अपूर्वा श्रीः त्वया समासादिता ।
भर्तः अलं शङ्कया ममापि भर्त्र्याः प्रसादेन क्रीडितमेव तत् किं कर्णाभर-
णेन । अतोऽपि मे गुरुः प्रसादः यत् त्वया अहमत्र आलिखितेति कुपिता
मे प्रियसखी सागरिका तत् प्रसाद्यताम् ।
२ आर्यपुत्र एषापि या तव समीपे । एतत् किं वसन्तकस्य विज्ञानम् ।
आर्यपुत्र ममापि एतत् चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।

पुन मलयवत्त समाधि एव चित्तकम्प वेयवन्तीए सीसवेदणासमुप्पण्णा इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात् प्रत्यक्षनिष्ठुरा भिधानं यत्नमिति ।

अथ वर्णसंहार । चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इति । यथा वीरचरिते तृतीयोऽङ्के ।

परिचयिममृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्ध ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराण
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां धनुर्भृतानां वर्णिनां वचसा रामविषया त्वविन परशुरामदुर्लसस्मात्क्रोधमाम्नाहारेणोद्भवनाद् वर्णसंहार इति ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसन्ध्युपक्षिप्त बिन्दुलक्षणा वान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रगमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासम्भव प्रयोग इति ।

अथ गर्भसंधिमाह ।

गर्भस्तु ... प्राप्तिसम्भवः ॥३६॥

प्रतिमुखसन्धौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वक सान्तरायो लाभ पुनर्विच्छेद पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेद पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारंवार सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्ताया पताकाया अनियम दर्शयति । पताका स्यान् नवेत्यनेन । प्राप्तिसम्भवस्तु स्यादेवेति दर्शयति । स्यादिति । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तावेषसा पायेन वासवदत्तापरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिका प्राप्त्याशा प्रथम पुनर्वासवदत्तयाविच्छेद पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेद पुनरपा अभिसारणोपायान्वेषणं नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपाय इत्यनेन दर्शितमिति । स च द्वादशाङ्गो भवति ।

तान्युद्दिशति ।

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी ॥

अत्र विरमति वसन्तकः । किन्तु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति ।

अथोदाहरणम् ।

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । सहर्षम् । ही ही[1] भो कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो आसि जादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तर्केमीत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्ताऽपि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति ।

अथ क्रमः ।

क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमितमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः । अथवा ।

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथाऽऽदौ बाधते यथाऽऽसन्ने ।
तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

इति विदूषकः । आकर्ण्य । भोदि सागरिए एसो पिअवअस्सो तुमं एव्व उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि ता णिवेदेमि से तुह आअमणं[2] इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव सञ्चिन्त्यमानाप्तिरिति क्रमः ।

अथ संग्रहमनन्तरम् ।

---

१ भो कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।

२ भवति सागरिके एष प्रियवयस्यः त्वामेवोद्दिश्य उत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम् ।

यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । पश्यन् । 'का उण एसा । ससम्भ्रमम् । कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि । राजा । ससम्भ्रममुपसर्पन् । क्वाऽसौ क्वासाविस्यनेन वासवदत्तावुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणव्यवसायात् सम्भ्रम इति । यथा च वेणीसंहारे । नेपथ्ये कलकलः । अश्वत्थामा । ससम्भ्रमम् । मातुल ! मातुल ! कष्टम् एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी सम- रव्यवदुर्योधनराधेयावभिद्रवति । सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमे- नेत्याशङ्का । तथा प्रविश्य सम्भ्रान्तः सप्रहारः सूतः । आयुष्मन् आयुष्मन् कुमार इति चाह । इत्येताभ्यामाशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डव विजयप्राप्त्याशङ्कितः सम्भ्रम इति ।

यथाऽऽक्षेपः ।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥३८॥

यथा रत्नावल्याम् । राजा । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रो- पायं पश्यामि । पुनः अनन्तरे सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्म । पुनस्तत् किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामीत्यनेन देवी- प्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः । यथा च वेणीसंहारे । सुन्दरकः । 'अहवा किमेत्थ देव्वं उवालहामि तस्स क्खु एव णिव्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणाजादमूलस्स जूदविसमाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि । इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाऽऽक्षिप्तम् इत्याक्षेपः ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शनपरत्वेनोपनिबन्धनीयान्येषां च मध्ये अभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासम्भवं प्रयोग इति । साङ्गो गर्भसन्धिरुक्तः ।

अथावमर्शः ।

---

१ का पुनरेषा । कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति ।

२ अथवा किमत्र दैवमुपालभामि तस्य खलु निर्भर्त्सितविदुरवचन बीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनाजात मूलस्य द्यूतविषशाखिनो पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति ।

मपि बलीयस्त्वेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनाद्द्रवः। यथा च वेणीसंहारे। युधिष्ठिरः। पाञ्चालक कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी। पाञ्चालकः। न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनाद्द्रव इति।

अथ संफेटः।

संफेटो रोषभाषणम्।

इति। यथा वेणीसंहारे। भो कौरवराज कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना मैवं विषादं कृथाः। पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाहमसहाय इति।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः॥

इत्थं श्रुत्वासूयात्मिका चाक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान् धार्तराष्ट्रः।

कर्णदुःशासनवधात् तुल्यावेव युवां मम।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः॥

इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामाभ्यामित्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योऽन्यरोषसम्भाषणात् विजयबीजान्वयेन संफेट इति।

अथ विद्रवः।

विद्रवो वधबन्धादिः

यथा छलितरामे।

येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम्।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते॥

यथा च रत्नावल्याम्।

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः।

दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनाकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिर गच्छतु भवान्। अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारमित्यनेन कथमुखसमर्थकार्यस्यान्वेषणाद् विबोध इति।

अथ ग्रथनम्।

ग्रथनं तदुपक्षेपो

यथा रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः। देव क्षम्यतां यद् देवस्याऽनिवेद्य मयैतत् कृतमित्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्। यथा च वेणीसंहारे। भीमः। पाञ्चालि न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु तिष्ठतु। स्वयमेवाहं संहरामीत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

अथ निर्णयः।

अनुभूताख्या तु निर्णयः ॥४६॥

यथा रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः। कृताञ्जलिः। देव श्रूयताम्। इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थं बहुशः प्रार्थ्यमानाऽपि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहित इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः। यथा च वेणीसंहारे। भीमः। देव देव अजातशत्रो क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः। मया हि तस्य दुरात्मनः।

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति।

अथ परिभाषणम्।

परिभाषा मिथो जल्पः।

समयो दुःखनिर्गमः ॥४७॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता रत्नावलीमालिङ्ग्य । 'समस्सस समस्सस बहिणिए' इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात् समयः । यथा च वेणीसंहारे । भगवन् कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान् पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसम्भूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वापि न त्वा
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

अथ कृतिः ।

कृतिर्लब्धार्थशमनम्

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते । वासवदत्ता । 'अज्जउत्त दूरे से मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं ण सुमरेदि' इत्यन्योन्यवचसा लब्धाया रत्नावल्या राज्ञः सुखितत्वे उपशमनात् कृतिरिति । यथा च वेणीसंहारे । कृष्णः । एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकिप्रभृतयोऽभिषेकमारभ्य तिष्ठन्तीत्यनेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

अथ भाषणम् ।

मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । अतः परमपि प्रियमस्ति ।

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।

---

१ समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके इति ।

२ आर्यपुत्र दूरे अस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति ।

देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिता कोसला
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥
इत्यनेन सामार्थसमादिलाभाद् भाषणमिति ।

अथ पूर्वभावोपगूहने ।

कार्यदृष्ट्य पगूहनं ।

इति । कार्यदर्शनं पूर्वभावः । यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासवदत्ता । [1]फुडं ज्जेव किं ण भणसि पडिवादेहि से रअणमालं त्ति इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावली दीयतामिति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात् पूर्वभाव इति । अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनम् । यथा वेणीसंहारे । नेपथ्ये । महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥

युधिष्ठिरः । देवि एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेनेत्यनेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । कार्यार्थगमनाद् द्युतिरपि भवति ।

अथ काव्यसंहारः ।

वराप्तिः काव्यसंहारः

इति । यथा । किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्तिः ।

प्रशस्तिः शुभशंसनम् ॥५१॥

इति । यथा वेणीसंहारे । प्रीततरश्चेद् भवान् तदिदमेवमस्तु ।

---

१ स्फुटमेव किं न भणसि प्रतिपादयास्यै रत्नमालामिति ।

पात्रैर्मध्यम प्रयोजित सङ्कीर्ण इति ।

अथ प्रवेशकः ।

तद्वदेवा           सूचकः ॥६०॥

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते । अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः । अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

अथ चूलिका ।

अन्तर्जवनिका           सूचना ।

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका । यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ । नेपथ्ये । स्वागतं तपोधनायाः । ततः प्रविशति तपोधना इति । नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकया आत्रेयीसूचनात् चूलिका । यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ । नेपथ्ये । भो भो वैमानिकाः प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि ।

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान् कौशिकमुनि
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधर
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥

अत्र नेपथ्यपात्रैर्देवै रामेण परशुरामो जित इति सूचनात् चूलिका ।

अथाङ्कास्यम् ।

अङ्कान्त           र्थसूचनात् ॥६२॥

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति । यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते । प्रविश्य सुमन्त्रः । भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः । इतरे । क्व भगवन्तौ । सुमन्त्रः । महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे । तदनुरोधात्तत्रैव गच्छाम इत्यङ्कसमाप्तौ । ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामा इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति ।

अथाऽङ्कावतार ।

अङ्का  प्रदर्शयेत् ॥६१॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाऽङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतार । यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते । विदूषक । '[1]तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्तभवदो दूदं विसज्जेध । अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावइस्सदि' इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसङ्क्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति । प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह ।

नाट्य  °विधेष्यते ।

केन प्रकारेण भेद तदाह ।

सर्वेषां  °श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥६२॥

तत्र ।

सर्वश्राव्यं  स्वगतं मतम् ।

इति । सर्वश्राव्यं यद् वस्तु तत् प्रकाशमित्युच्यते । यत् तु सर्वस्याश्राव्यं तत् स्वगतमितिशब्दाभिधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह ।

द्विधाऽन्यत्  °पवारितम् ॥६३॥

इति । अन्यत् तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ।

तत्र जनान्तिकमाह ।

त्रिपताककरेणा  तज्जनान्तिकम् ॥

इति । यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलं वक्रानामिकं त्रिपताका-करं कृत्वाऽन्येन सह यद् मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

---

१ तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतं । अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति ।

## द्वितीय प्रकाश

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते ।

नेता युवा ॥१॥

बुद्धयुत्साहस्मृ धार्मिकः ।

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतः । यथा वीरचरिते ।

यद् ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे
विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात् कृतस्त्वयि मया विनयापचारः
तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥

मधुरः प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव ।

राम राम नयनाभिरामताम्
आशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः
सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥

त्यागी सर्वस्वदायकः । यथा ।

त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नाऽस्त्यदेयं महात्मनाम् ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते ।

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद् दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक

मपि विप्रादीनां प्रकरणनेतॄणामुपलक्षणम्। विवक्षितं चैतत्। तेन नैमित्त्या-दिपुरुषान्तरेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव न लालित्यम्। यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादि।

तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलानाम्।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः॥

इत्यादि। यथा वा।

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥

अथ धीरोदात्तः।

महासत्त्वो ... धीरोदात्तो दृढव्रतः॥४॥

महासत्त्वः शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः। अविकत्थनोऽनात्म-श्लाघनः। निगूढाहङ्कारो विनयच्छन्नावलेपः दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहको धीरोदात्तः। यथा नागानन्दे। जीमूतवाहनः।

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्
किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्॥

यथा च रामं प्रति।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।

यच्च केषाञ्चित् स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे कीर्तनं तत्तदा धिक्यप्रतिपादनार्थम्। ननु च कथं जीमूत-वाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते। औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण

न्यम न राग माति न मदनस्य वशमतीत्यनेनाऽऽस्यापारम्य एकस्या स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति। अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्य मिति। षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाऽष्टाचत्वारिंशन् नायकभेदा भवन्ति।

सहायानाह।

पताकानायकस्त्वन्य ‥‥‥ तद्गुणं ॥७॥

प्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेष पताका तन्नायक पीठमर्द प्रधानेति वृत्तनायकस्य सहाय। यथा मालतीमाधवे मकरन्द रामायणे सुग्रीव।

सहायान्तरमाह।

एकविद्यो ‥‥‥ विदूषक।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विट। हास्यकारी विदूषक। अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव गम्यते। यथा शेखरको नागानन्दे विटः। विदूषक प्रसिद्ध एव।

अथ प्रतिनायक।

लुब्धो ‥‥‥ व्यसनी रिपु ॥८॥

तस्य नायकस्येत्थम्भूत प्रतिपक्षनायको भवति। यथा रामयुधिष्ठिरयो। रावणदुर्योधनौ।

अथ सात्त्विका नायकगुणा।

शोभा ‥‥‥ गुणाः ॥९॥

तत्र।

नीचे ‥‥‥ शौर्यदक्षते।

नीचे घृणा। यथा वीरचरिते।

> उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पित।
> नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति॥

गुणाधिके स्पर्धा यथा।

एता यस्य पुर स्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हर-
कोदण्डेन किरीटिना सरभस चूडान्तरे ताडित।

गाम्भीर्यं नोपलक्ष्यते ॥११॥

मृदुविकारोपलम्भाद् विकारानुपलब्धिरन्यत्र माधुर्यान्यद् गाम्भीर्यम्। यथा।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

अथ स्थैर्यम्।

व्यवसाया कुलादपि।

यथा वीरचरिते।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्।

अथ तेजः।

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥१२॥

यथा।

ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
अङ्गुलीदर्शनाद् येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥

अथ ललितम्।

शृङ्गाराकार ललितं मृदु।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः। तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम्। यथा ममैव।

लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण।
किं वा ममैव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥

अथौदार्यम्।

प्रियोक्त्या सदुपग्रहः ॥१३॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च। यथा नागानन्दे।

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइ परतित्तिणिप्पिवासाई ।
अविणअदुम्मे इाइ धण्णाण घरे कलत्ताइ ॥

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धामध्याप्रगल्भाभेदात् त्रिविधा ।

तत्र ।

मुग्धा नववय　　　　'मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथारम्भे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा ।

विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नति
रेखोद्भासिकृत वलित्रयमिद न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्य यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्र वयो वर्तते ॥

यथा च ममैव ।

उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरोवृद्धे शंसत्यस्या स्तनद्वयम् ॥

काममुग्धा यथा ।

दृष्टि सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नाऽऽरोहति प्राग् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनै ।

रतवामा यथा ।

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे
गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवतेस्म शयन पराङ्मुखी
सा तथापि रतये पिनाकिन ॥

---

१　लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ।
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियाया वचने च सातिशयविशेषोत्पत्ति
र्विलास । यथा मालतीमाधवे ।

अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्या ।
तद् भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्यम्
आचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥

अथ विच्छित्ति ।

आकल्परचना         -पोषकृत् ।

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्ति । यथा कुमा
सम्भवे ।

कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे
गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे ।
तस्या कपोले परभागलाभाद्
बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोह ॥

अथ विभ्रम ।

विभ्रमस्त्वरया         विपर्यय ॥३३॥

यथा ।

अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती
संलापसंवलितलोचनमानसाभि ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभि ॥

यथा वा ममैव ।

श्रुत्वा यान्तं बहि कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलक कृत ॥

अथ किलकिञ्चितम् ।

-त्यादे         किलकिञ्चितम् ।

यथा ममैव

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियाया वचन च सातिशयविशेषोत्पत्ति विलासः । यथा मालतीमाधवे ।

अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद् भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्यम्
आचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥

अथ विच्छित्तिः ।

आकल्परचना         पोषकृत् ।

स्तोकोऽपि वेषः बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः । यथा कुमार सम्भवे ।

कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे
गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्
बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः

अथ विभ्रमः ।

विभ्रमस्त्वरया         विपर्ययः ॥३६॥

यथा ।

अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती
संलापसंवलितलोचनमानसाभि ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभि ॥

यथा वा ममैव ।

श्रुत्वाऽऽयान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥

अथ किलकिञ्चितम् ।

क्रोधाश्रु         किलकिञ्चितम् ।

यथा ममैव

वैदग्ध्यक्रीडितं      विहितं त्रिधा ॥५४॥

आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः        नर्माष्टादशधोदितम् ॥५६॥

ग्राम्य इष्टजनावर्जनकृत् परिहासो नर्म । तच्च शुद्धहास्येन स शृङ्गारहास्येन सभयहास्येन च रचितं त्रिविधम् । शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदनसम्भोगेच्छाप्रकाशनसापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव । भयनर्मापि शुद्ध रसान्तराङ्गभावात् द्विविधम् । एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम् ।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा ।

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन<br>
स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।<br>
सारञ्जयित्वा चरणौ कृताशी<br>
र्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥

वेषनर्म यथा नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे । क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्रे स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम् ।

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा ।

मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां<br>
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः ।<br>
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं<br>
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः ॥

सम्भोगनर्म यथा ।

सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।<br>
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥[1]

माननर्म यथा ।

---

१ सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा ।<br>
अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥

तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद् दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे । सुसङ्गता । [1]जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण ता देवीए णिवेदइस्सं इत्यादि ।

शृङ्गारभयनर्म । यथा ममैव ।

अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

अथ नर्मस्फूर्जः ।

नर्मस्फूर्जः 'नवसङ्गमे ।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः ।

विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं
ननु चिरात् प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां
त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥

मालविका । [2]भट्टा देवीए भएण अप्पणो वि पिअं कादुं ण पारेमीत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः ।

नर्मस्फोटस्तु ... ॥४०॥

यथा मालतीमाधवे । मकरन्दः ।

---

१ ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद् देव्यै निवेदयिष्यामि ।

२ भर्तः देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।

एतावताऽपि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रापयम् प्रियगुणो भगवान् गुरुर्मे ॥

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगम्भीरवचसा धनाप इति ।

अथोत्थापकः ।

उत्थापकस्तु ... परम् ॥१४॥

यथा वीरचरिते ।

आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं तु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नाऽस्मि विषय किं वा बहुव्याहृतैः
रस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥

अथ साङ्गात्य ।

मन्त्रार्थ ... सङ्गभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या । यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीना चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव । यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षस हस्तगमनेन मलयकेतुसहायाभिभेदनम् । दैवशक्त्या तु । यथा रामायणे रामस्य दवशस्या रावणाद् विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

अथ परिवर्तक ।

प्रारब्धोत्थान ... परिवर्तक ॥१६॥

प्रस्तुतस्योत्थोचकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरण परिवर्तक ।
यथा वीरचरिते ।

हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छन मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत् सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ।

राम । भगवन् परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतदित्यादि ।
धारवतीमुपलंहृत्यारमटीसक्षणमाह ।

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

मुखं यथा ।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥

पात्रं यथा शाकुन्तले ।

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥

रङ्गं  वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

रङ्गस्य प्रसत्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा ।

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ॥

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।

सा तु ।

भारती  प्रहसनामुखैः ॥५॥

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती । प्ररोचना वीथीप्रहसनामुखानि चास्यामङ्गानि ।

यथाक्रमं लक्षणमाह ।

उन्मुखीकरणं  प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतृणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम्

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।

यस्यैकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्त्यै पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥

वीथी तद् गुण ॥६॥

सूत्रधारो तदामुखम् ॥७॥

प्रस्तावना कथोदश ॥८॥

तत्र कथोद्घातः ।

स्वेतिवृत्तसमं द्विधैव सः ॥९॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । द्वीपादन्यस्मादपीति ।

वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे । सूत्रधारः ।

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥

ततोऽ[illegible] । भीमः ।

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

अथ प्रवृत्तकम् ।

कालसाम्य प्रवृत्तकम् ।

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशं प्रवृत्तकं यथा ।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥

ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः ।

अथ प्रयोगातिशयः ।

विदूषक प्रति । आर्य उन्मत्ता यस्त्वया कमभेगो लक्षित । विदूषक । प्रथम पञ्चूसे बम्हस्सस्स पूआ होदि सा तए लङ्घिदा । मालविका स्मयते इत्यादिना नायकस्य विप्रलम्भनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलाभकारिणा वचनेन व्याहार ।

अथ मृदवम् ।

दोषा गुणा ... इत् ॥१८॥

यथा शाकुन्तले ।

मेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्य वपु
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्त भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष स च धन्विना यदिषव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग् विनोद कुत ॥

इति मृगयादोषस्य गुणीकार ।

यथा च ।

सततमनिर्वृतमानसमायासहस्रसकुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वास जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभाव ।

उभय वा ।

सन्त सच्चरितोदयव्यसनिन प्रादुर्भवद्यन्त्रणा
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दु ख सदा ।
अव्युत्पन्नमति कृतेन न सता नैवाऽसता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जन प्राकृत ॥

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

एषा ... प्रपञ्चयेत् ॥१९॥

तत्र ।

अभिगम्य ... महीपति ॥२०॥

कथावर्णनो ... र्थविकारिकम् ॥२१॥

---

१ प्रथमं प्रत्यूष ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा तया लङ्घिता ।

प्रमुकार्य्याभिप्रत्यैनोपनिबध्यमाने   सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः । तदुक्तम् । 'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमिदं भावितं वासितमिति । यत् तु रसान् भावयन् भाव इति । कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव इति च तदभिनयकाम्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम् ।

ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः ।

पृथक्   भावाः ॥४॥

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम् । यदाह । 'सत्त्वं नाम मनःप्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । एतदेवास्य सत्त्वं यत् खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः भावसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम् ।

ते च ।

स्तम्भ   'मुख्यस्तमसा ॥५॥

यथा ।

> 'वेवइ सेअदवदनी रोमाञ्चिअए गत्तिए भमइ ।
> विलुलु तु वलय लहु बाहोल्लसीए रणेति ॥
> मुहइ सामलि होइ खणे विमुच्छइ विअप्पेण ।
> मुद्धा मुहल्ली तुम पेम्मेण सा वि ण धिज्जइ ॥

अथ व्यभिचारिणः । तत्र सामान्यलक्षणम् ।

---

१ यस्य निकामापमा पिब्दा बलि॰ सम्भाव्यते ।
वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वहति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्यां रणति ॥
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विकल्पेन ।
मुग्धा मुग्धस्ते तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ॥
इत्योद्धृतस्यास्यानतिसुगमत्वात् संस्कृतच्छायास्य व्याख्या च समीचीना जाता ।

विशेषा            वारिधौ ॥६॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वद् रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावा । ते च ।

निर्वेद            नयाश्च ॥७॥

तत्र निर्वेदः ।

तत्त्व            धीमता ॥८॥

तत्त्वज्ञानान् निर्वेदो यथा ।

> प्राप्ता श्रिय सकलकामदुघास्तत किं
> दत्त पद शिरसि विद्विषता तत किम् ।
> सम्प्रीणिता प्रणयिनो विभवैस्तत किं
> कल्प स्थित तनुभृता तनुभिस्तत किम् ॥

आपदो यथा ।

> राज्ञो विपद् बन्धुवियोगदु ख
> देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेद ।
> आस्वाद्यतेऽस्या कटुनिष्फलाया
> फल मयैतद् चिरजीविताया ॥

ईर्ष्यातो यथा ।

> धिक् धिक् शक्रजित प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरै पीनै किमेभिर्भुजै ।
> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावण ।

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा ।

> ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-
> पीठाच्छलद्रुधिरराजिविराजितासा ।
> नाऽपि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग
> सङ्क्रान्तकुङ्कुमरसा खलु निष्फलास्ते ।

अथ जडता।

अप्रति °यस्तत्र ॥१२॥

इष्टदर्शनाद् यथा।

एवमालि निगृहीतसाध्वसं
शङ्करो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला
नास्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिये॥

अनिष्टश्रवणाद् यथा। उदात्तराघवे। राक्षसः।

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः।
येषां नायकतां याताः त्रिशिरःखरदूषणाः॥

द्वितीयः। गृहीतधनुषा रामहतकेन। प्रथमः। किमेकाकिनैव? द्वितीयः। अदृष्ट्वा कः प्रत्येति। पश्य तावदस्मद्बलस्य।

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्कुलाकुलाः।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे॥

प्रथमः। सखे यद्येवं तदाऽहमेवंविधः किं करवाणीति।

अथ हर्षः।

प्रसत्ति °गद्गदाः।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतःप्रसादो हर्षः। तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः। यथा।

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनादरात्
उन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभारावलग्नं रजः॥

निदर्शनान्तरमुन्नेयम्।

दौर्गत्या — दिमत् ॥१३॥

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनौद्धत्यं चेतसो दैन्यम्। तत्र च [illegible]-मार्जनमलिनवसनदर्शनादयोऽनुभावाः। यथा।

क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनाऽपि हेतो
र्लीलाभि किमु सति कारणे रमण्य ॥

यथाऽसूया ।

परोत्कर्ष            तानि च ॥१६॥

वर्णे यथा वीरचरिते ।

> अधिगत्ये प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्ति प्रभो प्रत्युत
> द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
> उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चाऽऽत्मन
> स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्त कथ मृष्यते ॥

दौर्जन्याद् यथा ।

> यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
> नहि परयशो निन्दाव्याजैरल परिमार्जितुम् ।
> विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
> दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदन् श्रममेष्यसि ॥

मन्युजा यथाऽमरुशतके ।

> पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुख
> प्रवृत्तो वैलक्ष्यात् किमपि लिखितुं दैवहतक ।
> स्फुटो रेखान्यास कथमपि स तादृक् परिणतो
> गता येन व्यक्तिं पुनरवयवै सैव तरुणी ॥
> ततश्चाऽभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
> मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गदगिरा ।
> अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याऽश्रुकलुष
> रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरण ॥

यथाऽमर्ष ।

अधिक्षेप            मादय ॥१७॥

यथा वीरचरिते ।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

यथा वा वेणीसंहारे ।

युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवान्
अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥

अथ गर्वः ।

गर्वो          वीकरणम् ॥१८॥

यथा वीरचरिते ।

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥

यथा वा तत्रैव ।

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

अथ स्मृतिः ।

स्मृति          नादय ।

यथा ।

मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद् भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणम्
आ ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥

यथा वा मालतीमाधवे । माधवः । मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भा-
वितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतायमानस्तद्विसदृशै

अस्मात्तु रैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोतीति धृतिसाम्यादत्रैतन्यम् ।

> लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
> प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ।
> सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
> श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥

अथ मरणम् ।

मरणं     नोच्यते ॥ १९ ॥

यथा ।

> सम्प्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
> वारं वारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम् ।
> सम्प्रत्येव निवेद्य केलिकुररी सास्रं सखीभ्यः शिशो
> र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥

इत्यादिवत् शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् । अन्यत्र कामचारः । यथा वीरचरिते । पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम् ।

> हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्र
> संवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।
> नासापुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यद्
> उद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥

अथ मदः ।

हर्षोत्कर्षो     यमादिषु ।

यथा माघे ।

> हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
> चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥

इत्यादि ।

अथ सुप्तम् ।

सुप्तं            स्वप्नम् ॥ २० ॥

यथा ।

> लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
> नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
> परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
> कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥

अथ निद्रा ।

मनः            श्वासादि ॥

यथा ।

> निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
> नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
> अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या
> स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ।

यथा च माघे ।

> प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
> प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
> मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
> ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥

अथ विबोधः ।

विबोधः            मर्दनैः ॥ २१ ॥

यथा माघे ।

> चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
> चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
> अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणाम्
> अशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥

अथ व्रीडा ।

दुराचारा            मुखादिकृत् ॥ २२ ॥

यथाऽमरुशतके ।

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥

यथाऽपस्मारः ।

आवेशो ... भ्रमणम् ॥ २३ ॥

यथा माघे ।

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चै-
र्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगाना-
मसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥

अथ मोहः ।

मोहो ... दर्शनादयः ॥ २४ ॥

यथा कुमारसम्भवे ।

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्ति
मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं
कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥

यथा चोत्तररामचरिते ।

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

अथ मतिः ।

भ्रान्ति ... चोर्मयः ।

यथा किराते ।

प्रारोहत्स्फुटजाड्यमावह घटका वाचयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिता ।

वातावेगो यथा ।

वाताहृतं वसनमाकुलमुत्तरीयम् ।

इत्यादि ।

वर्षजो यथा ।

देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभि पङ्कभीता ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान् पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषित सञ्चरन्ति ॥

उत्पातजो यथा ।

पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान
कैलाससम्भ्रमविलोलदृश प्रियाया ।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्नम्
आलिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौले ॥

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्याम् । तद् यथा । उदात्तराघवे । चित्रमाय । ससम्भ्रमम् । भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायताम् इत्यादि । पुनश्चित्रमाय ।

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपु ।
नीयते रक्षसानेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

राम ।

वत्सस्याभयवारिधे प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे संभ्रम ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहु स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चय ॥

इत्यनेनानिष्टप्राप्तिकृतसंभ्रम ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाग्रे । प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानर ।

यावदपि रावणस्य प्रतिनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रस्यापि वीरविभावविभावविस्तरहेतुतया रामभद्रोपमाद्रावणात् रौद्ररसस्यैव। अत्र वर्णितम् ... इत्यादौ हास्यरसोऽपर एव। एवं ध्यान निमीलनादि यच्छान्तरसाभिव्यञ्जकतया समस्तव्यापारेऽपि मोक्षपर्यन्त प्रमाद् ... प्रतिपादनेन दर्शनपरत्वेन महाविस्मय इत्यनेन स्पृष्टत्वा एवमाद्यनन्तपारी तु समस्तमपि वाक्य भविष्यद्विप्रसम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम्। यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थ भेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरत्वेऽप्यदोषः। यथा।

स्वाम्याय्योपगतं सुरर्षिनिकरं दर्भाङ्कुरीलालितं
कैलोक्या चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दरतरं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥

इत्यादौ एवमुक्तप्रकारेण रसान्तरस्याप्युपनिबन्धे सर्वथाऽविरोधः। यथा वा पूर्वमावयत्याविरहेऽपि नाटकेषु तथैव तात्पर्यं तथाऽग्रे दर्शयिष्याम.।

ते च।

रसुत्वाद् नैतस्य ॥३३॥

अथ शान्तरस प्रतिपादितमनेकधा विप्रतिपत्तय। तत्र केचिदाहुः। नास्त्येव शान्तो रस। तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनात् लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभाव वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भाव वर्णयन्ति। एव वदन्त शममपि नेच्छन्ति। यथा—तथाऽस्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभि शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्। यत् तु कैश्चिन् नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णित तत् तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्ध-प्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या च विरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्। तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेना-

र्विरोधाभावोऽप्युचितमेव च सर्वथा कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषा नस्थायित्वेन फलं सम्पद्यत इत्याश्चर्यमेव प्राक् । अतोऽस्त्येव स्थायित्वं । ननु च रसनाद् रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्येण । निर्वेदादिष्वपि तत् प्रकाममस्तीति तेऽपि रसा इत्यादिना रसान्तराणाम् पर्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इति प्रकारणानुपपत्ति ।

अत्रोच्यते ।

निवदा मता ॥१४॥

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम् । अतएव ते चिन्तादिस्वस्वाभिचारिभिरन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना नीरसतामावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनं हास्यादीनामस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् । अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति । किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः । ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता । कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः । न तावद् वाच्यवाचकभावः स्वशब्दनिवेदित्वं स्यात् । न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते । येन तेषां तत्परिपोषस्य वाऽभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण । नापि सामान्यतलक्षणभावस्तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्याधारत्वायोगात् स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतार्थोपलक्षितं तटमुपलक्षयति । यत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः । को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत । किञ्च भागवत रत्यादिवत् । अतएव दुष्करत्वादपि नैव प्रतीतिः । यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात् तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वमविगानेन सर्व

उद्भूयमाना रसास्वादोन्मुखेन । अत्र कश्चिदभिधाव्यापारमीमांसाभ्यां वाच्यान्य-
रसादिरसिकत्वभिन्नो व्यतिरिक्त व्यञ्जनव्यापार उपरम्यमाणः रसा-
लङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति । तथाहि । विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन
रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् यथा कुमारसम्भवे ।

विवृण्वती शैलसुताऽपि भावम्
अङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ
मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

इत्यादावनुरागस्य भावस्याभिधेयतानुभावकत् परिचायकत्वविभावोपवर्णना-
देवाभ्यन्तरेऽपि शृङ्गारप्रतीतिरस्तीति । रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः । न केवलं
रसेष्वेव यावद् वस्तुमात्रेऽपि । यथा ।

[1]भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरुपलब्धाऽपि व्यञ्जनयैव सुधीभिः ।
तथाऽलङ्कारेष्वपि ।

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्यादिषु चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दमित्याद्युपमालङ्कारप्रतिपत्ति-
र्व्यञ्जनव्यापारमन्तरेण नेति । न चास्याभिधैकनिगम्या । मनुपपदमशब्दार्थ-
पदाभावात् । नाऽपि वाक्यार्थत्वं व्यञ्जकस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात् ।
तथाहि । भ्रम धार्मिकेत्यादौ पदार्थविषयाभिधानन्तरमन्वयबोधात्मक
वाक्यार्थविषयाभिधानन्तरं तृतीयकक्ष्यायामन्यतोऽ
निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जनव्यापारेण स्फुटमेवावभासते ।

१ भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

सन्निवेशिनी त्रिधैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् क्वचित् प्रीत्यै नवोढा प्रियेत्येवमादौ क्वचिच्च प्रकरणादिवशान् नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद् वा साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादि स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्त तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादि-वाक्यार्थ । नचापदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम् । कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्यशक्तेः । तथाहि पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वं कार्यपरम् । अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत् काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते । तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते । अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते । तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः । तदेतत् काव्यवाक्यम् । यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ । न चैवं सति गीतादिवत् सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोग । विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेस्तदने-नाऽतिप्रसङ्गोऽपि निरस्त । ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिता भिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतौ व्यञ्जकत्वपरिकल्पनं प्रयास यथाऽवोचाम काव्यनिर्णये ।

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि ।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥
ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।

विभावत्वेन तु रामादेरवर्तमानतयाभासनमिष्यत एव। किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते। अपितु सहृदयानानन्दयितुम्। स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव। यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात् ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः सत्पुरुषाणां च लज्जेतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते। प्रदीपेनेव घटादि। न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्य स्वभावम्। भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः। कथं च सीतादीनां च देवीनां विभावत्वेनाविरोध उच्यते।

धीरोदात्ता        रतिकस्य तैः ॥३८॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीर्धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो विदधति।

ता        रसहेतवः।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवाऽनिष्टं कुर्युः। किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेदुच्यते।

क्रीडतां        विभिः ॥३९॥

एतदुक्तं भवति। नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत् स्त्र्यादिविभावानामुपयोगः। किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम्। यदाह। अष्टौ नाट्यरसाः स्मृता इति।

काव्यार्थ        वार्यते।

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति। तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात्  काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्  काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।

कथं च काव्यात् स्वादोद्भूतिः किमात्मा चास्वाद इति व्युत्पाद्यते ।

स्वाद समुद्भव ॥४०॥

विकास क्रमात् ॥४१॥

हास्याद्भुत धारणम् ॥४२॥

काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदेऽन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः । तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्यत्वेन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद् यथा । शृङ्गारे विकासो वीरे विस्तरो बीभत्से क्षोभो रौद्रे विक्षेप इति तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः । अत एव ।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥

इति । हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात् ।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणादवधारणमप्यत एवाष्टाविति सम्भेदानां भावात् । ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति । करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुःष्यात् । तथाहि । तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति । न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत् । किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणामन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः । तथाह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि वा लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात् तदा न कश्चित् तत्र प्रवर्तेत । तत करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेदश्रुपाता दयश्चेति वृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत्

प्रेक्षमाणा प्रादुर्भवन्तो न विरम्यन्ते । तस्मात् रसान्तरवत् न खल्वस्यास्वा-
दनात्मकत्वमेव ।

ननु शान्तरसस्याऽनभिधेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि
सूक्ष्मातीतादिवस्तुना सर्वेषामपि वस्तुप्रतिपादनतया विद्यमानत्वात् काव्य-
विषयत्वं न निवार्यते । अतस्तदुच्यते ।

अत्र     तत्समता ।

शान्तो हि यदि तावत् ।

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

इत्येवं लक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवाऽऽत्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादु-
र्भावात् तस्य च स्वरूपेणाऽनिर्वचनीयता । तथाहि श्रुतिरपि स एष नेति
नेत्यन्यापोहरूपेणाऽऽह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः
सन्त्यथ तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकास-
विस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति । तदुक्तयैव शान्तरसास्वादो निरूपित ।

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकं प्रकरणोप-
संहारं प्रतिपादयते ।

पदार्थैः     गतैः ॥४६॥

भावितः     परिकीर्तितः ।

यथानिर्वर्णितस्वरूपैः काव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्रादिभिरुद्दीपनविभावैः प्रम-
दाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः     रोमाञ्चाश्रुभ्रू-
क्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो
विभावितः भावरूपतामानीतः  स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

विषयभेदश्चावगन्तव्यः । तथाऽन्वयेन स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गा-
रादीनां च पृथक् लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु ।

मतस्त्वेष     यथो ॥४७॥

क्रियत इति वाक्यशेषः ।

तत्र तावत् शृङ्गारः ।

रम्यदेश [illegible] विनेष्यते ॥४६॥

इत्यमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति । रम्यदेश परमेतत् ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते ।

स्मरसि सुतनु तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥

कलाविभावो यथा ।

हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तौ
भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥

यथा च ।

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधायं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिताः
तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे ।

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात् प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नान्वैक्षत सुन्दरीणामम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥

तत्रैवमेव ।

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे
पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

वेषविभावो यथा तत्रैव ।

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मराग
माकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवार
वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥

उपभोगविभावो यथा ।

चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युति ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणिते चेत स्थलीवर्धित ॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे ।

जयति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादय
प्रकृतिमधुरा सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येक स एव महोत्सव ॥

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे ।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावंसयो
सक्षिप्त निबिडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्य पाणिमितो नितम्बि जघन पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनस स्पष्ट तथास्या वपु ॥

पुरुषविभावो यथा मालतीमाधवे ।

भूयो भूय सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्त
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात् काम नवमिव रतिर्मालती माधव यद्
गाढोत्कण्ठामुकुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

ध यो यानुरागो यथा तत्रैव ।

विस्तार्य तु ।

हृद्यं    विस्तरात् ॥ ५२ ॥

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोगः ।

विप्रयोगस्तु    प्रणयेर्ष्ययोः ॥ ५३ ॥

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगः । तस्य द्वौ भेदौ मानः प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

तत्र    र्द्वयोः ।

प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयस्तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः । स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते ।

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः<br>
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।<br>
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया<br>
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य ।

प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससंभ्रमविस्मित-<br>
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।<br>
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-<br>
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद् विलक्षमवस्थितम् ॥

उभयोः प्रणयमानो यथा ।

पणयकुविआण दोण्ह वि अलिअपसुत्ताण माणइल्लाणम्[1] ।<br>
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो ॥

स्त्रीणां    मुखात् ॥ ५४ ॥

उत्स्वप्ना    गोचरः ॥ ५५ ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्ध

---

१ प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।<br>
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥

मयोत्तरं रसान्तरं ॥ ६६ ॥
तत्र 'नतिः ॥ ६७ ॥
सामादौ 'पादिताः ॥ ६८ ॥
तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव ।

> स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
> दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।
> वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
> कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥

[ यथा वा ।
इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधा कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ]

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा ममैव ।

> कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
> धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः ।
> प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
> वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे ।

> मुहुरुपहसितामिवालिनादै
> वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
> अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
> शठ कलिरेव महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥

पादयोः पतनं नतिर्यथा ।
[1]णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअन्ति त्ति कहेइ ॥

---

१ नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोस्थमनुमुक्तमित्येव कथयति ॥

उद्ग्रीवश्चरणाबद्धमयूख कुसुमाऽम्बुपूर्णे वृषी
तामाशापथिकस्तथाऽपि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥

गतप्रवासो यथा मेघदूते ।

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।

शापच्छद्मनयोस्तु प्रवासाभावाद्भावप्रवासस्य च गतप्रवासाविशेषाद् वैविध्यमेव युक्तम् ।

द्वितीय      यात् ।

यस्मात्सिद्धचारणादिजन्मविपर्ययात् परस्परमविज्ञानाद् वाङ्मुखि पूर्वमस्यावेकस्य एव सम्भवतः प्रवासः । यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्याम् । यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपा      ऽपि ॥६॥

यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ।

मृते      नेतरः ॥६१॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे । कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

तत्र नायिकां प्रति नियमः ।

प्रलपा      वर्णिता ॥६२॥

अथ सम्भोगः ।

अनुकूलौ      मुदान्वितौ ॥६३॥

यथोत्तररामचरिते ।

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगाद्
अविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥

स्वापं समुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि । इति ।

सर्वक्षत्रियविमुक्तसन्निविशदसद्धस्त स्फुरत्कौस्तुभ
निष्पन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद् वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥

यथा च ममैव ।

लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिना वीरस्यापि भावात् नैष प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः ।

अथ बीभत्सः ।

बीभत्सः   प्रभूतकः ।

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायैर्विभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभाव-परिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः । यथा मालतीमाधवे ।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्काद्
अङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभावः क्षोभणो बीभत्सः । यथा वीरचरिते ।

आन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो बीभत्सः । यथा ।

स्नाते सचले सरलवसन चित्रांशुक वल्कल
शीतासोषणहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥

परस्थो यथा ।

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो दासस्य काऽन्या गतिः ॥

स्मितमिह ... 'हसितम्' ।।७० ।।

अपहसितं ... क्रमात् ।।७१।।

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते मध्यमस्य विहसितोपहसिते अधमस्यापहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः । व्यभिचारिणश्चास्य ।

भित्र ... 'चारिण' ।।७३।।

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा ।

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

इत्यादि ।

अथ भयानकः ।

विकृत ... 'सहोदर' ।।७४।।

रौद्रशब्दश्रवणाद् रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः । तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः । दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः । भयानको यथा माधुदाहृत ।

शस्त्रमेतत् समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः ।
यथागतपथेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥